सामयिक वार्ता

मार्च 2016 ❐ मूल्य : 20 रुपए

राष्ट्रवाद की अवधारणा : सच्चिदानन्द सिन्हा

- ☐ काश्मीर की पीड़ा
- ☐ माइक्रोफाइनेन्स का सच
- ☐ समान स्कूल पर उच्च न्यायालय
- ☐ लोकतंत्र की कुछ समस्याएँ
- ☐ दिल में दरार
- ☐ नियमगिरि की जीत

फ़िलिस्तीन - 2015

कात्यायनी

वहां जलते हुए धीरज की ताप से गर्म पत्थर
हवा में उड़ते हैं,
पतंगें थकी हुई गौरय्यों की तरह
टूटे घरों के मलबों पर इन्तज़ार करती हैं,
वीरान खेतों में नये क़ब्रिस्तान आबाद होते हैं,
और समन्दर अपने किनारों पर
बच्चों को फुटबॉल खेलने आने से रोकता है।
वहां, हर सपने में खूऩ का एक सैलाब आता है
झुलसे और टूटे पंखों, रक्त सनी लावारिस जूतियों,
धरती पर कटे पड़े जैतून के नौजवान पेड़ों के बीच
अमन के सारे गीत
एक वज़नी पत्थीर के नीचे दबे सो रहे होते हैं।
फ़िलिस्तीन की धरती जितनी सिकुड़ती जाती है
प्रतिरोध उतना ही सघन होता जाता है।

जब संगीनों के साये और बारूदी धुएँ के बीच
'अरब-बसन्त' की दिशाहीन उम्मीदें
बिखर चुकी होती हैं
तब चन्द दिनों के भीतर पाँच सौ छोटे-छोटे ताबूत
गाज़ा की धरती में बो दिये जाते हैं
और माँएँ दुआ करती हैं कि पुरहौल दिनों से दूर
अमन-चैन की थोड़ी-सी नींद मयस्सर हो बच्चों को
और ताज़ा दम होकर फिर से शोर मचाते
वे उमड़ आयें गलियों में, सड़कों पर
जत्थेड बनाकर।

''उत्तर-आधुनिक'' समय में ग्लोबल गाँव का जिन्न
दौड़ता है वाशिंगटन से तेल अवीव तक,
डॉलर के जादू से पैदा वहाबी और सलाफ़ी जुनून
इराक़ और सीरिया की सड़कों पर
तबाही का तूफान रचता है।
ढाका में एक फैक्ट्री की इमारत गिरती है
और मलबे में सैकड़ों मज़दूर
ज़िन्दा दफ़्न हो जाते हैं
और उसी समय भारत में एक साथ
कई जगहों से कई हज़ार लोग
दर-बदर कर दिये जाते हैं।
कुछ भी हो सकता है ऐसे समय में।
गुजरात में गाज़ा की एक रात हो सकती है,
अयोध्या में इतिहास के विरुद्ध
एक युद्ध हो सकता है,
युद्ध के दिनों में हिरोशिमा-नागासाकी रचने वाले
शान्ति के दिनों में कई-कई भोपाल रच सकते हैं
और तेल की अमिट प्यास बुझाने के लिए
समूचे मध्य-पूर्व का नया नक्शा खींच सकते हैं।

जब लूट से पैदा हुई ताक़त का जादू
यरुशलम के प्रार्थना-संगीत को
युद्ध गीतों की धुन में बदल रहा होता है,
तब नोबेल शान्ति पुरस्कार के तमगे को
खून में डुबोकर पवित्र बनाने का
अनुष्ठान किया जाता है
और मुक्ति के सपनों को शान्ति के लिए
सबसे बड़ा खतरा घोषित कर दिया जाता है।
सक्रिय प्रतीक्षा की मद्धम आँच पर
एक उम्मीद सुलगती रहती है कि
तमाम हारी गयी लड़ाइयों की स्मृतियाँ
विद्युत-चुम्बकीय तरंगों में बदलकर

....शेष कवर पेज 3 पर

सामयिक वार्ता

मार्च 2016, वर्ष 39 अंक 7-8

संस्थापक संपादक : किशन पटनायक
संपादक मंडल
सच्चिदानंद सिन्हा,
कमल बनर्जी, अफलातून, संजय भारती, बाबा मायाराम,
चंचल मुखर्जी (संयोजक)
संपादन सहयोग
लोलार्क द्विवेदी, संजय गौतम, प्रियदर्शन
अरविंद मोहन, हरिमोहन, राजेन्द्र राजन
अरुण कुमार त्रिपाठी, मेधा, चंदन श्रीवास्तव
महेश विक्रम सिंह
प्रबन्ध सहयोग : नीता चौबे
परामर्श मंडल
योगेन्द्र यादव, स्मिता, कश्मीर उप्पल
अक्षर संयोजन : गौरीशंकर सिंह
आवरण चित्र : फोटो –

खाता नाम - सामयिक वार्ता
या Samayik Varta
बैंक ऑफ बड़ौदा (Bank of Baroda)
शाखा - सोनारपुरा, वाराणसी
Sonarpura, Varanasi (U.P.)
खाता संख्या **40170100005458**
IFSC Code : BARB0SONARP
(यहाँ दूसरे B के बाद जीरो है, ओ नहीं
S के बाद O (ओ) है।)
MICR CODE : 221012030
इस खाते में पैसा जमा करने तथा ग्राहक के पते की सूचना
इ-मेल अथवा मोबाइल-08765811730/ 08004085923

कार्यालय
डी. 28/160, पाण्डे हवेली, वाराणसी-221001
फोन : 08004085923 (संपादन),
08765811730 (प्रबंध)
e-mail- varta3@gmail.com

इस अंक में

2 राष्ट्रवाद की अवधारणा
सच्चिदानंद सिन्हा

4 माइक्रोफाइनेंस का भ्रमित अर्थशास्त्र
प्रो. बलवीर जैन

10 लोकतंत्र की कुछ समस्याएँ
राजकिशोर

17 कश्मीर की पीड़ा
आशुतोष कुमार

27 लोकतंत्र, समाजवाद और स्वराज
महेश विक्रम

33 समान शिक्षा प्रणाली बनाम नई शिक्षा नीति

37 नियमगिरि की ऐतिहासिक जीत
लिंगराज

35 भारत विभाजन का सही परिप्रेक्ष्य
पुस्तक चर्चा

42 सत्ता की दलाली में लोहिया का इस्तेमाल
प्रेम सिंह

सदस्यता शुल्क : एक प्रति : 20/-, वार्षिक शुल्क : 150/-, संस्थागत वार्षिक शुल्क : 200/-
पाँच वर्षीय शुल्क : 600/-, आजीवन शुल्क : 2000/-

राष्ट्रवाद की अवधारणा कितनी प्राचीन, कितनी समीचीन

सच्चिदानंद सिन्हा

हैदराबाद में एक दलित छात्र रोहित वेमुला की आत्महत्या को लेकर उठा विवाद और फिर इसके तत्काल बाद जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के कुछ छात्रों द्वारा कथित रूप से राष्ट्र-विरोधी नारे लगाये जाते हैं। इस सवाल पर उठे विवाद ने अचानक राष्ट्रप्रेम और राष्ट्रीय वफादारी के सवाल को व्यापक विवाद का मुद्दा बना दिया है। जेएनयू विवाद में पुलिस ने आनन-फानन में एक शिक्षक समेत कुछ विद्यार्थियों को हिरासत में लेकर उन पर राष्ट्र-द्रोह का मुकदमा ठोक दिया और कुछ उत्साही वकीलों ने, जिन्हें आरएसएस का समर्थक बताया जाता है, अदालत मामले का संज्ञान ले इसके पहले कोर्ट परिसर में ही अभियुक्तों को लप्पड़े-थप्पड़ से उनके जुर्म के गम्भीरता का अहसास करा दिया। इसके बाद कुछ जमातें लगातार जहाँ-तहाँ मार-पीट और दंगा-फसाद से अपनी राष्ट्रभक्ति का इजहार करने में संलग्न हैं। प्रशासन भी यथासंभव, राष्ट्रभक्ति के इस उफान में हस्तक्षेप करने से तराता है। अगर राष्ट्रवाद के नाम पर होने वाले फसाद में कानून-व्यवस्था पक्षाघात का शिकार हो रही है और आम नागरिकों की अभिव्यक्ति की आजादी राष्ट्रभक्ति के उन्माद में निरस्त हो रही हो तो इस राष्ट्रभक्ति के उत्स और औचित्य पर विचार करना लाजिमी हो जाता है। इसलिए भी कि प्रायः राष्ट्रीय युद्धों में राष्ट्रभक्ति के उत्स और औचित्य पर विचार करना लाजिमी हो जाता है। इसलिए भी कि प्रायः राष्ट्रीय युद्धों में राष्ट्रभक्ति की ऐसी भावना का उभार होता है, जिसे विवाद से परे माना जाता है।

प्रख्यात समाजशास्त्री इमिल दुरखाइम ने सामुदायिक व्यवहारों को दो श्रेणियों में बाँटा था– 1. सैक्रेड (पवित्र) और 2. प्रोफेन (लोकाचारी)। सैक्रेड से उनका मतलब उन व्यवहारों से था जो मानवतेर और उदात्त हैं। अतः उन्हें मानवीय कसौटियों पर आंका नहीं जा सकता। प्रोपेन हमारे दैनन्दिन के कार्यकलापों का क्षेत्र है, जिनका आकलन हम रोजाना हानि-लाभ की कसौटियों से करते हैं। राष्ट्रवाद की अतिरेक का खतरा इस बात से पैदा होता है कि इसे भी सैक्रेड यानी मानवेतर धार्मिकता की कोटि में डाल दिया जाता है, जिससे हम इसे उसके सांसारिक परिणामों की कसौटी पर नहीं कस सकते : जैसे यह कथन ''मेरा देश सही या गलत सर्वोच्च है।'' हम इसके सभी कार्यों में शरीक हैं भले ही वह गलत भी हो। कार्लमार्क्स ने धर्म को लोगों के लिए अफीम कहा था। राष्ट्रभक्ति भी दरअसल ऐसी ही अफीम है। राष्ट्रीयता के पीछे की यही भावना है, जिससे संसार राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों की भयावह त्रासदियों से गुजरता रहा है। शायद, राष्ट्रीय उन्माद मानव समाज का सबसे दुखदायी मर्ज है। अगर हम सिर्फ पिछले दो महायुद्धों पर गौर करें, जिनमें करोड़ों लोग मरे और इतने ही लोग अपंग हुए तो इसकी सच्चाई दिखेगी। और इससे हासिल क्या हुआ, अन्तहीन कटुता।

अठारहवीं सदी के पहले राष्ट्रीयता का यह भाव कहीं नहीं था। यूरोप में भी नहीं। भारत में तो राष्ट्र-राज्य (नेशन-स्टेट) का यह भाव कहीं नहीं था। एक क्षेत्रीय भाव तो दूसरी जगहों की तरह यहाँ भी व्याप्त था। जब हम क्षेत्रीय भाव की बात करते हैं तो इस दिलचस्प हकीकत को ध्यान में रखना जरूरी है कि यह 'क्षेत्र भाव' अधिकांश जीवों में यानी पक्षियों में, मछलियों में, कुत्तों, बिल्लियों, भैसों आदि में भी पाया जाता है। कुत्ते, भैंस आदि मल-मूत्र से अधिकतर क्षेत्रका सीमांकन करते हैं। हम मनुष्य झंडे, पताके या बाड़े बनाकर। लेकिन इन सबके पीछे समान रूप से व्याप्त वह पशु प्रवृत्ति ही है, जिससे हम एक क्षेत्र पर अपना वर्चस्व प्रदर्शित करना चाहते हैं इसमें कुछ भी उदात्त या विशिष्ट नहीं है, जिसमें हमारी मानवीयता की व्याप्ति हो। समग्रता में विचार करने पर हमारी गरिमा की दृष्टि से हमारे तोपों, बन्दूकों, युद्धपोतों और युद्धक वायुयानों का कुत्तों और भैंसों के मल-मूत्र से ज्यादा महत्व नहीं है, जिससे वे अपनी सीमा पर दावा करते हैं। तटस्थ होकर विचार करने पर यही अहसास होता है कि ये सब तुच्छ पशु के बल के प्रदर्शन से ज्यादा कुछ भी नहीं है। पशुओं में कुछ पैंतरेबाजी और हल्के भिड़ंत से वर्चस्व कबूल कर लिया जाता है। इसके विपरीत मनुष्य अपनी दावेदारी के प्रदर्शन का ऐसा कैदी बन जाता है कि राष्ट्र के नाम पर विनाशकारी युद्धों में उलझ जाता है। अपने हैसियत के हिसाब से भारत भी आजादी की अर्द्ध शताब्दी में ही तीन युद्ध में उलझ चुका है और सीमा पर की झड़पें तो रूटीन बन गयी हैं।

एक क्षेत्रीय भाव हमारे यहाँ भी अन्य जगहों की तरह जरूर व्याप्त थे। इस अर्थ में कि अपने प्राकृतिक परिवेश के निरापद एका स्थापित होता था। पुराणों में संभवतः इसी के एक अभिव्यक्ति मिलती है। यथा वह क्षेत्र जिसके उत्तर में हिमालय है और दक्षिण में महासागर वह क्षेत्र भारत है और इसमें रहने वाले भारतीय। यह परिवेश प्रेम हमारी मूल चेतना का अंग है। काव्यों में भी राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति हुई है, यथा— ''भारत माता ग्राम वासिनी। खेतों में फैला है श्यामल धूल भरा मैला सा आंचल, गंगा यमुना में आंसू जल मिट्टी की प्रतमा उदासिनी।'' या ''सुजलां, सुफलां मलयज शीतलाम् शस्य श्यामलम् मातरम्।'' विदेशी लोगों ने भी भारत की भौगोलिक पहचान ही दी—यानी सिन्धु नदी का प्रदेश। सिन्दु नदी से ही उत्तर-पश्चिम में आने वालों का प्रथम साक्षात्कार होता था।'' सिन्धु का ही उच्चारण हिन्दू हुआ और इसी से हम हिन्दुस्तानी हो गये या फिर यूरोपियनों के लिए जब सिंधु 'इन्डस' हो गया तो हम 'इंडियन'। भारतीय इतिहास और पुराणों में अंग, बंग, कलिंग, भद्र, मगध, कौशल, वैशाली, मिथिला आदि का जिक्र तो है और उसके शासकों का भी जिक्र, लेकिन राष्ट्र-राज्य के रूप में उस भौगोलिक क्षेत्र का जिक्र कहीं नहीं होता, जिसे हम भारत कहते हैं। यह हमारे आधुनिक इतिहास की निर्मिति है—उस कालखण्ड में जब राष्ट्र-राज्य पूँजीवादी विकास का आधारशिला बन रहा था। अब यह भावनात्मक आधार भी बहुराष्ट्रीय, राजकीय और अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों के विकास में कमजोर होता जा रहा है। संयुक्त राष्ट्रसंघ, यूरोपीय संघ एवं इसकी मुद्रा यूरो आदि ने पुराने राष्ट्र-राज्य के आधार को काफी कमजोर कर दिया है। अब हमें शक्तिशाली राष्ट्र बनने की दौड़ में हाँफते हुए शामिल होने की कोई मजबूरी नहीं, जो बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में थी। अब पूँजीवाद भी जो, राष्ट्र-राज्य का जनक था, बहुराष्ट्रीय आयाम ग्रहण कर चुका है और राष्ट्रीय इकाइयों से ऊपर जा अन्तर्राष्ट्रीय गठबन्धनों से अपना उल्लू सीधा करने में लगा है। वह उसी हद तक राष्ट्रीय भावनाओं को उभारता है जिस हद तक उसका उल्लू सीधा होता है। अदानी का एक पाँव भारत में है तो दूसरा ऑस्ट्रेलिया में, टाटा और वेदान्ता भारतीय हैं या ब्रितानी, बतलाना कठिन हो जाएगा। सभी जगह इनके पाँव हैं। ये वहीं तक भारतीय हैं जहाँ तक इन्हें सस्ते संसाधन और सस्ते श्रमिक मिले हैं। लेकिन राष्ट्र के नाम पर लोगों को अंधा बनाये रखना भी जरूरी है ताकि प्राकृतिक संसाधनों और श्रमशक्ति का दोहन आसानी से हो सके। वे ही लोग जो भारत माता के नाम पर रोज कसम खाते हैं 'मेक इन इंडिया' का नारा देकर दुनिया भर के पूँजीपतियों को इस देश के संसाधनों की साझा लूट में हिस्सेदारी के लिए निमंत्रण दे रहे हैं। ऐसा नारा देने वाले इतना नादान नहीं कि समझें कि विदेशी निवेशक सदाशयता से हमारी मदद में आयेंगे। वे इसीलिए आयेंगे क्योंकि हमने अपनी धरती की खुली लूट के लिए निर्वसन कर दिया है। अपने प्रदेश और परिवेश के स्वाभाविक प्रेम के कारण हम पश्चिम की नयी निर्मिति राष्ट्र-राज्य में इसकी छवि देखने लगते हैं।

हमारी परंपरा में राष्ट्र-राज्य के रूप में उस भौगोलिक क्षेत्र का जिक्र नहीं आता जिसे हम आज भारत कहते हैं। संभवतः इस क्षेत्र के अधिकांश भाग पर सिर्फ अशोक के समय एकछत्र शासन था। अंग्रेजों के आने के पहले समग्र भारतीय राज्य की उपस्थिति की कोई विश्वसनीय जानकारी नहीं मिलती। मुगलों के समय भी नहीं। हालाँकि औरंगजेब के समय भारत के अधिकांश भाग पर मुगलों का शासन कायम हो चुका था।

जब अंग्रेज, पुर्तगाली और फ्रांसीसी लोगों ने भारत के कई भू-भाग पर कब्जा करने का प्रयास किया उस समय भी यहाँ के राजे-महाराजे अपनी रियासतों के लिए ही लड़ते रहे, किसी भारत राष्ट्र के लिए नहीं। दरअसल शरीर की बनावट और वेशभूषा के फर्क से यूरोपीय लोग यहाँ के लोगों से इतना भिन्न लगते थे कि उनके नियंत्रण से मुक्त होने की कामना जगी। राष्ट्रीयता की भावना की अभिव्यक्ति 1857 के सिपाही विद्रोह के समय ही हुई, जिसे बहुत लोग भारत का प्रथम मुक्ति संग्राम मानते हैं जब लोगों ने राष्ट्रीय एकता के प्रतीक के रूप में बहादुर शाह जफर को भारत के सम्राट के रूप में दिल्ली की गद्दी पर स्थापित किया। उस समय तक यूरोप में राष्ट्र-राज्य की अवधारणा जड़ जमा चुकी थी और अंग्रेज, फ्रांसीसी, डच आदि राष्ट्रीय इकाइयों की तरह दुनिया भर में जोर अजमाने के लिए आपस में लड़ रहे थे। शायद इसी संपर्क और संघर्ष ने भारतीयों में भी आधुनिक राष्ट्र-राज्य के अर्थ में अलग राष्ट्र होने का अहसास कराया।

ध्यान में रखने की बात है कि स्वयं यूरोप में यह राष्ट्रभाव नया ही था। समग्रता में इसका विकास फ्रांस की 1789 की प्रजातांत्रिक क्रान्ति के बाद हुआ। इसी समय एक व्यापक 'जन भावना' जिसका आधार रूसो के विचारों में था, मान्यता प्राप्त करने लगा। अब राष्ट्र-राज्य से जन भावना का प्रतिफल माना जाने लगा। इस समय तक यूरोप में भी सभी जगह क्षेत्रीय राजाओं का राज था कहीं-कहीं एक

राजा का राज्य कई देशों में फैला था। फ्रांसीसी क्रान्ति के पराभव के बाद जब नेपोलियन की सत्ता आई और उसने यूरोप पर अधिकार का अपना अभियान चलाया तो इसी की प्रतिक्रिया में कई देशों में आधुनिक अर्थ में राष्ट्रवाद का उदय हुआ।

जर्मनी में, इटली में, स्पेन और यूरोप के कई दूसरे देशों में राष्ट्रीय अस्मिता का बोध तीव्र हुआ। 1857 के बाद भारत में राष्ट्रभाव पहले पहल यूरोप के नवोदित राष्ट्रभाव की तर्ज पर विकसित होने लगा। इसके तीन दशक के भीतर ही इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना से यह चेतना ठोस रूप धारण करने लगी।

अब जब भारत एक आजाद राष्ट्र है तो इसे यूरोप में राष्ट्रवाद के उन्माद से पैदा भयावह युद्धों और विनाश से सबक लेना चाहिए और वैसे उग्रवादी रूझान से बचना चाहिए। यूरोप के दो महायुद्धों के बाद जो नवनिर्माण यूरोप में हुए हैं, उनमें छोटी अस्मिताओं की स्वायत्तता को प्रश्रय मिला है। सोवियत यूनियन के विघटन से कई स्वतंत्र राष्ट्र अस्तित्व में आये। योगोस्लोवाकिया कई स्वतंत्र राष्ट्रों में खूनी संघर्षों के बाद विभाजित हुआ। चोकोस्लोवाकिया प्रेमपूर्वक दो स्वतंत्र राष्ट्र चेक और स्लोवाकेया राज्य में विभाजित हो गया।

स्वयं ग्रेट ब्रिटेन, जिसकी पार्लियामेंट की तर्ज पर काफी हद तक, हमारे लोकतांत्रिक ढांचे का विकास हुआ है, विभाजन के दबाव से गुजर रहा है और वहाँ के एक राज्य स्काटलैंड में जनमत ग्रेट ब्रिटेन से अलग स्वतंत्र राष्ट्र के निर्माण के पक्ष में होता जा रहा है। वहाँ की स्कॉटिश नेशनल पार्टी स्वतंत्र स्कॉटलैंड बनाने की माँग को लेकर चुनाव में हिस्सा लेती है। लेकिन इस माँग के लिए उसे देशद्रोही नहीं करार दिया जाता। उनके सदस्य वहीं की पार्लियामेंट में सम्मानित सदस्य के रूप में स्थान ग्रहण करते हैं और सदनकी कार्यवाहियों में हिस्सा लेते हैं। यह सहनशीलता बतलाती है कि लोकतन्त्र सिर्फ संसदीय औपचारिकता ही नहीं है बल्कि नागरिकों की भावना और विचार के प्रति सहिष्णुता और पूर्ण सम्मान की व्यवस्था है। जो बाते सर्वमान्य हों और जिससे हमें आघात नहीं लगे उसे बर्दाश्त करना दरअसल सहिष्णुता नहीं होती। कड़वी बातें सहना भी सहिष्णुता है।

माइक्रोफाइनेंस का भ्रमित अर्थशास्त्र

प्रो0 बलबीर जैन

माइक्रोफाइनेंस का काम गरीब और कम आय वर्ग के लोगों को ऋण देना है। अभी हाल तक इसके पैरोकार इसे गरीबी उन्मूलन के पर्याय के तौर पर देखते रहे हैं। हालांकि प्रामाणिक साक्ष्यों के अभाव में अब इसे गरीबी उन्मूलन का उपाय बताना बंद कर दिया गया है। माइक्रोफाइनेंस से जुड़ा दूसरा दावा स्त्री सशक्तीकरण का था, जिसे भी साक्ष्यों के अभाव में छोड़ दिया गया है। इनके अलावा इसे बातचीत में बचत प्रोत्साहन, बचत डिपाजिट, परिवार नियोजन से भी माइक्रोफाइनेंस को जोड़ा जाता रहा है। यही नहीं माइक्रोफाइनेंस की कार्यविधि से भी इन लक्ष्यों की प्राप्ति का कोई स्पष्ट मार्ग नहीं दिखता है। दूसरे शब्दों में, कहना उचित होगा कि माइक्रोफाइनेंस संस्थाओं का काम ब्याज पर छोटी रकमें ऋण के रूप में देना भर है। ये ऋण तो बहुत छोटे हैं पर इन्हें लेने वाले परिवार करोड़ों हैं। इस तरह माइक्रोफाइनेंस कॉरपोरेट जगत का एक बड़ा कारोबार बन गया है।

सवाल उठता है कि माइक्रोफाइनेंस की असलियत को छुपाने के लिए इतने आवरणों की आखिर जरूरत क्यों है? कम आय वर्ग के परिवारों को ब्याज पर ऋण देना कोई नया कारोबार नहीं है। ऐसा सदियों से होता आया है। पर इन ऋणों की वसूली कोई आसान काम नहीं है- यह बहुत जोखिम और धैर्य का काम है जिन्हें परंपरागत साहूकार सहजता से करते आए हैं। उनकी ब्याज दरें उनकी मेहनत और जोखिम के कारण ज्यादा होती थी और अक्सर उन्हें शोषणात्मक माना जाता था। इसी कारण आजादी के बाद उनकी कारगुजारियों को नियंत्रित करने हेतु साहूकारी पर कड़े कानून लागू किये गये। पर ये नियम प्रतिबंधात्मक साबित हुए। परंपरागत साहूकारों में से ज्यादातर ने यह कारोबार ही बंद कर दिया। उनमें से कई ने कस्बों और शहरों में दूसरे कारोबार शुरू कर लिए।

कम, अनियमित और अनिश्चित आमदनी इन तिहरी व्यवथाओं से ग्रस्त गरीब परिवारों को अकसर भोजन,

दवाई, इलाज जैसी बुनियादी जरूरतों के लिए ऋण लेना पड़ता है। दरअसल अधिनियमों का उद्देश्य साहूकारी को मर्यादित करना था। इसे प्रतिबंधित करने का उद्देश्य कतई नहीं था। परंपरागत साहूकारों के पलायन से पैदा हुए रिक्त स्थान भरने के लिए सहकारी संस्थाओं और राष्ट्रीयकृत बैंकों के माध्यम से भरसक प्रयास किये गये जो कि नाकाम रहे। कुछ हद तक परंपरागत साहूकारों का प्रतिस्थापन गैर लाइसेंसशुदा साहूकारों ने कर दिया है। इन गैर लाइसेंसशुदा साहूकारों में ज्यादातर गैरपेशेवर हैं। यह अव्यवस्थित साहूकारी व्यवस्था शोषणात्मक तो है ही कभी-कभी बाहुबलियों के कारण दमनात्मक भी हो जाती है। कभी कभार इसका नर्म रूप भी सामने आता है। ऋण के गैरकानूनी स्वरूप को समझते हुए कुछेक ऋणदाता बातचीत द्वारा भी इन लेन देनों को सुलझाते हैं जिससे कर्जदार को थोड़ी बहुत रियायत भी मिल जाती है। पर ऐसी स्थिति आम नहीं, मात्र अपवाद है।

गौरतलब है कि उपरोक्त स्थिति माइक्रोफाइनेंस के प्रादुर्भाव के पूर्व की है। तदनुसार ऋण के जरूरतमंद गरीब परिवारों को तीन हिस्सों में बांटा जा सकता था। पहले, ऐसे परिवार जो ऋण हासिल नहीं कर पाते हैं क्योंकि कानूनी समर्थन के अभाव में कोई गैरलाइसेंस शुदा ऋणदाता उन्हें कर्ज देने को तैयार ही नहीं होता था। दूसरे, कुछ एक व्यक्तिगत संपर्क के कारण ऋण हासिल कर लेते थे। तीसरे, बाकी के जरूरतमंद गरीब परिवार जो गैरलाइसेंसशुदा साहूकारों के कर्जदार थे और इनमें से कई एक को शोषणात्मक और दमनात्मक हालात से भी गुजरना पड़ता था।

शुरुआत

उपरोक्त परिस्थितियों में 1970 और 1980 के दशकों में माइक्रोफाइनेंस का नव पर्वतन हुआ था। इसकी शुरुआत 1976 में बंगलादेश के प्रोफेसर मुहम्मद युनूस ने एक मिशन के रूप में की थी। उन्होंने चिटगांव के निकट एक गांव जोबरा में एक जरूरतमंद ग्रामीण स्त्री की सहायता के उद्देश्य से अपनी जेब से एक छोटी रकम दी थी और उन्हें उम्मीद नहीं थी कि वह स्त्री रकम वापस करेंगी। पर उसने कुछ दिनों बाद इस रकम को लौटा दिया। इसके बाद प्रोफेसर युनूस ने गरीब परिवारों को ऋण देने के कई तजुरबे किये। गरीब कर्जदारों द्वारा ऋण वापसी में सफलता के अनुभवों के आधार पर माइक्रोफाइनेंस के लिए ग्रामीण बैंक नामक संस्था की स्थापना की। आईआरडीपी की ऋण बसूली दर मात्र 41 फीसदी थी जबकि माइक्रोफाइनेंस की ऋण वसूली दर 95 फीसदी से भी ज्यादा था। इससे यह उम्मीद बनी कि जरूरतमंद गरीब परिवारों को साहूकारों के शोषण और दमन से निजात मिल सकती है। माइक्रोफाइनेंस निसंदेह वित्तीय क्षेत्र का एक बड़ा नवपर्वतन है जिसने गरीब परिवारों को भी बैंक प्रणाली के दायरे में ला दिया है।

कम, अनियमित और अनिश्चित आय इन तीन व्यथाओं से जूझने में माइक्रोफाइनेंस निसंदेह गरीबों के लिए बहुत उपयोगी है। पर इससे गरीबी का उन्मूलन कैसे हो सकता है- इस प्रश्न के समुचित उत्तर का इंतजार किये बिना ही प्रोफेसर युनूस ने माइक्रोफाइनेंस को गरीबी उन्मूलन का पर्याय घोषित कर दिया। उनके इस दावे को 1980 और 1990 के दशक में नवउदारवादी ताकतों का पुरजोर समर्थन भी मिल गया। यह दावा लगभग तीन दशक तक छाया रहा। इस दौरान इसे कल्याणकारी राज्य के खिलाफ एक औजार की तरह इस्तेमाल किया गया। तीस वर्ष बाद इसके आवरणों की परतें तो खुलने लगी पर इस दौरान भारत में जो थोड़ी बहुत कल्याणकारी व्यवस्था थी उनका एक नियोजित तरीके से संकोचन किया गया है। माइक्रोफाइनेंस के पैराकारों का दावा था कि गरीबी उन्मूलन के लिए माइक्रोफाइनेंस कल्याणकारी राज्य से बेहतर है क्योंकि यह स्व-सहायता पर आधारित है। इसी दावे के अनुरूप शिक्षा और स्वास्थ्य क्षेत्रों में सेवाओं पर किफायत की जाने लगी। यही नहीं इन क्षेत्रों का तेजी से व्यापारीकरण और निजीकरण भी किया गया, बिना साख के माइक्रोफाइनेंस को गरीबी उन्मूलन के तरीके के तौर पर तब तक पेश किया जब तक कि घटनाक्रम ने ही उनके दावे को गलत साबित नहीं कर दिया। इस संदर्भ में सवाल उठता हैः ऐसा क्यों किया गया? लेख के एक दूसरे हिस्से में हम इस विषय पर चर्चा करेंगे। इस हिस्से में फिलहाल इसके विस्तार और भारत में इसके वर्तमान स्वरूप पर ही चर्चा की जाएगी।

बंगलादेश में ग्रामीण बैंक की स्थापना में देश के केंद्रीय बैंक, बंगलादेश बैंक ने भरपूर मदद की। यही नहीं बंगलादेश की सरकार और अंतरराष्ट्रीय दाताओं ने भी ग्रामीण बैंक की हर तरह से मदद की। उनके वित्तीय समर्थन और उदार अनुदानों की बदौलत ग्रामीण बैंक का तेजी से विस्तार हुआ। गौरतलब है कि 1991 में ग्रामीण बैंक के 10 लाख से भी ज्यादा सदस्य थे।

भारत में माइक्रोफाइनेंस की शुरुआत 1992 में स्व-सहायता समूहों के माध्यम से की गई थी। इन समूहों की स्थापना गैर सरकारी संगठनों (एनजीओ) के अथक प्रयासों से ही संभव हो पाई थी। एक समूह में आमतौर पर पन्द्रह

सदस्य होते हैं और वे एक नियमित अंतराल (मासिक/पाक्षिक/ साप्ताहिक) पर मीटिंग में ऋण का लेन-देन करते हैं। शुरू में देनदारी के मामले में संयुक्त जिम्मेदारी होती थी। अब मुख्यतः व्यक्तिगत जिम्मेदारी की व्यवस्था है। 1990 के दशक में समूह को संगठित करने का काम आमतौर पर एनजीओ ही करते थे और इस काम में नाबार्ड (नेशनल बैंक फार एग्रीकल्चर एण्ड रूरल डिवेलपमेंट) की तरफ से अनुदान की समुचित व्यवस्था रही है। उदाहरण के लिए 2008-09 में 2,91,780 स्व-सहायता समूहों को संगठित करने के लिए प्रति समूह 2195 रुपये का अनुदान मंजूर किया गया था अर्थात 2008-09 में 64 करोड़ रुपये का अनुदान इसके वास्ते मंजूर किया गया था। गौरतलब है कि 31 मार्च 2009 में देश में कुल 61 लाख समूह कार्यरत थे और इनकी स्थापना में एनजीओ और नाबार्ड के अनुदानों की अहम भूमिका रही है। इसके अलावा एनजीओ को अंतरराष्ट्रीय दाताओं से भी वित्तीय सहायता मिलती रही है।

समूह तीन प्रकार के हैंः (1) समूहों के संघ के अंर्तगत बैंक खातों का नियंत्रण संघ करता है, (2) बैंक के अंर्तगत हर एक समूह अपने बैंक खाते का स्वयं ही नियंत्रण करता है, और (3) माइक्रोफाइनेंस संस्था के अंतर्गत। 1990 के दशक में एनजीओ ही माइक्रोफाइनेंस संस्थाओं (एमएफआई) को संचालित करते थे। 2002 से एनजीओ द्वारा संचालित माइक्रोफाइनेंस संस्थाओं के व्यापारीकरण और निजीकरण की प्रक्रिया शुरू हो गई थी। इस वक्त माइक्रोफाइनेंस के 90 फीसदी से भी ज्यादा कारोबार का व्यापारीकरण और निजीकरण हो चुका है।

एनजीओ द्वारा संचालित एमएफआई इमदाद (सबसिडी) के सहारे प्रतिस्थापित हुए थे और धीरे-धीरे वे इसके बिना भी कार्यशील रह सकते थे। विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय दाताओं के एक समूह द्वारा संस्थापित थिंक टैंक सीगैप (सीजीएपी-कंसलटेटिव ग्रुप टु एस्सिट दी पुअर) ने माइक्रोफाइनेंस के दाताओं और निवेशकों के लिए 2006 में गाइडलाइन्स प्रकाशित की थी जिसके अनुसार माइक्रोफाइनेंस को इमदाद (सबसिडी) की जरूरत शुरू के चरणों में ही होनी चाहिए, प्रतिस्थापित होने के बाद इसकी जरूरत नहीं होनी चाहिए। सीगैप के अनुसार माइक्रोफाइनेंस के परिचालन को अधिक प्रभावी बनाने के लिए इनका आत्मनिर्भर होना बहुत जरूरी है। सीगैप के अनुसार माइक्रोफाइनेंस के परिप्रेक्ष्य में आत्मनिर्भरता और लाभप्रदता एक दूसरे के पर्याय हैं। लाभप्रदता का मतलब है कि एमएफआई इतना लाभ अर्जित करें ताकि इसकी सेवाओं को बनाए रखने के लिए और इनके विस्तार के लिए इमदाद की जरूरत न पड़े। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सीगैप के अनुसार एनजीओ ज्यादा सक्षम नहीं है, व्यापारीकरण के लिए निजीकरण को आवश्यक मानते हुए तदनुसार परिवर्तन लाने की बात कही गई है।

इन्हीं गाइडलाइन्स के अनुरूप भारत के माइक्रोफाइनेंस क्षेत्र में 2002 से व्यापारीकरण और निजीकरण की दिशा में परिवर्तन हुए हैं और इसके साथ ही सरकारी और दाताओं की इमदाद पर निर्भरता भी खत्म हो गई है। निसंदेह माइक्रोफाइनेंस बहुत ज्यादा फायदे का कारोबार है। 2002 से ही निजी एमएफआई के प्रमुख प्रबंधकों को करोड़ों रुपये के बराबर सालाना वेतन और इन्सैटिव मिलते आये हैं। ये प्रमुख प्रबंधक ही आमतौर पर इन निजी एमएफआई के प्रमुख शेयर होल्डर भी हैं। उनमें बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने शुरुआती दौर में एनजीओ के माध्यम से एमएफआई प्रतिस्थापित किये थे। पर अब इन एमएफआई का स्वरूप बदला गया था और इस बदले हुए स्वरूप में इनकी लाभप्रदता का अंदाजा एस के एस माइक्रोफाइनेंस के 2010 के आईपीओ से लगाया जा सकता है जिसमें शेयर का बाजार भाव शेयर के अंकित भाव से 98 गुणा था। इस एमएफआई के प्रमुख प्रबंधक को अपने शेयरों के एक चौथाई के बराबर शेयरों के एवज में 55 करोड़ रुपये हासिल हो गये थे।

न्यूवेव माइक्रोफाइनेंस और एनजीओ संचालित माइक्रोफाइनेंस में फर्क का कारण केवल इमदाद नहीं है। एनजीओ में सभी समूहों की हिस्सेदारी होती थी। दूसरी ओर न्यूवेव माइक्रोफाइनेंस में वह मात्र कर्जदार हैं और एमएफआई उनका ऋणदाता है। ब्याज की दरों में भी भारी अंतर है- एनजीओ संचालित एमएफआई की ब्याज पर औसतन 18 फीसदी के लगभग थी जबकि न्यूवेव माइक्रोफाइनेंस की औसत ब्याज दर लगभग 30 फीसदी थी। लाभ की होड़ में न्यूवेव एमएफआई अपने कर्जदारों को ज्यादा ऋण लेने के लिए उत्प्रेरित करते रहते हैं। परिणाम स्वरूप कई परिवारों ने एक से ज्यादा एमएफआई से ऋण हासिल कर लिए। एक ऋण की अदायगी के बाद दूसरे ऋण की रकम बढ़ाकर ऋण देने के प्रस्ताव से भी ज्यादा ऋण लेने के लिए उत्प्रेरित किया जाता है। इस तरह गरीब परिवारों को ऋण के जाल में फंसाने की भी कोशिश की जाती है। ऋण ग्रस्त परिवारों के लिए ऋण वापस करने में दिक्कतें आना शुरू होने पर कर्ज वसूली के लिए जोर

जबरदस्ती भी की जाती है।

इस तरह न्यूवेव (निजी) एमएफआई की लाभ की होड़ से गरीब कर्जदारों की हालत बहुत दयनीय हो गई थी। कर्ज के जाल में फंसना या फंसाना आसान है पर इससे निकलना बहुत मुश्किल है। किसी प्रकार के नियंत्रण नहीं होने के कारण निजी एमएफआई का अपने कर्जदारों के प्रति अमर्यादित होने की शिकायतें भी आने लगी थी। इसी दौरान कर्ज के असहनीय बोझ के कारण किन्ही कर्जदारों द्वारा 2010 मे आत्महत्या की खबरों से आंध्र प्रदेश में माइक्रोफाइनेंस के प्रति जन आक्रोश व्याप्त हो गया। माइक्रोफाइनेंस के प्रति राजनैतिक माहौल भी काफी गर्म हो गया। इसी दौरान बहुत से कर्जदारों ने ऋण वापस देना बंद कर दिया। हालात के बिगड़ने के कारण सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा और माइक्रोफाइनेंस को मर्यादित करने के लिए आचार संहिता लागू की गई है। साथ ही ब्याज दरों पर भी अंकुश लगा कर इसका अधिकतम स्तर 26 फीसदी निर्धारित किया गया। 2011 के सुधारों से ना केवल माइक्रोफाइनेंस का संकट निबट गया बल्कि इसके बाधा रहित प्रसार का मार्ग भी प्रशस्त हो गया।

गौरतलब है कि 2011 के पूर्व ज्यादातर निजी एमएफआई की ब्याज दर 30 फीसदी या इससे ज्यादा थी। पर ब्याज की अधिकतम सीमा 26 फीसदी करने के बाद भी माइक्रोफाइनेंस अत्याधिक लाभप्रद कारोबार है इसकी पुष्टि किन्हीं एमएफआई को खरीदने हेतु प्रस्तावित दरों से की जा सकती है। इसकी जानकारी समाचार पत्रों में समय समय पर प्रकाशित खबरों में निहित है। यही नहीं गोल्ड लोन देने वाले दोपहियों/ तीन पहियों वाले वाहनों को खरीदने के लिए ऋण देने वाली प्रतिष्ठापित कारोबारी भी धड़ाके से या तो एमएफआई स्थापित कर रहे हैं या इनका अधिग्रहण कर रहे हैं। माइक्रोफाइनेंस की लाभप्रदता और प्रतिस्थापित एमएफआई के अधिग्रहण की इस प्रकार की मांग के परिप्रेक्ष्य में यह सवाल उठता है। क्या माइक्रोफाइनेंस और साहूकारी में फर्क नहीं है?

गरीबी उन्मूलन के नाम पर

माइक्रोफाइनेंस के नवपवर्तक प्रोफेसर मुहम्मद युनूस के अनुसार माइक्रोफाइनेंस गरीबी उन्मूलन का प्रयास है। इस मत का अनुमोदन विश्व बैंक सहित अन्तरराष्ट्रीय विकास समुदाय ने किया है। 1997 में माइक्रोफाइनेंस समिट ने प्रोफेसर युनूस के गरीबी उन्मूलन के दावे का पुरजोर समर्थन किया था। इस समिट में 137 देशों के 5000 प्रतिनिधियों ने शिरकत की थी। इनमें पूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति बिल क्विंटन सहित दुनिया के शीर्ष राजनेता कई देशों के शाही खानदानों के सदस्य हालीबुड स्टार और कई अन्तरराष्ट्रीय दाता भी थे। इसके बाद गरीबी उन्मूलन की उपलब्धियों को संयुक्त राष्ट्र ने मान्यता देते हुए 2005 को माइक्रोफाइनेंस का अन्तरराष्ट्रीय वर्ष नामांकित किया था। 2006 मे प्रोफेसर युनूस और उनके द्वारा स्थापित ग्रामीण बैंक को नोबेल शांति पुरस्कार से भी नवाजा गया था।

अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर इस तरह के व्यापक समर्थन से माइक्रोफाइनेंस के प्रति एक प्रकार का रोमांच और उन्माद साधा गया था। यह रोमांच और उन्माद माइक्रोफाइनेंस को गरीबी उन्मूलन से जोड़ने की ही बदौलत था पर कई वर्षों तक इस मामले में तथ्यात्मक साक्ष्यों की तलाश की गई थी जो अंततोगत्वा नाकाम कोशिश रही। पर इसके बावजूद काफी लम्बे अरसे तक यानी लगभग तीस वर्ष तक माइक्रोफाइनेंस द्वारा गरीबी उन्मूलन की कहानी दोहराई गई। 2010 के आंध्र प्रदेश के संकट के साथ ही माइक्रोफाइनेंस के पैराकारों के दावे भी तार-तार हो गए। घटनाक्रम के सामने वे इस सच्चाई को मानने को मजबूर हो गए। प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं चाहिए। सीगैप द्वारा 2013 में प्रकाशित न्यू माइक्रोफाइनेंस हैंडबुक में अंतगोगत्वा स्वीकार किया गया है कि माइक्रोफाइनेंस का वास्तव में गरीबी उन्मूलन पर कोई प्रभाव नहीं है।

इसके पूर्व 1998 में सीगैप द्वारा प्रकाशित माइक्रोफाइनेंस हैंडबुक का फोकस माइक्रोफाइनेंस में निवेश हेतु ऋण देकर रोजगार सर्जन और आय-अर्जन द्वारा गरीबी उन्मूलन पर था। इसके पूर्व 1997 के माइक्रोफाइनेंस समिट में भी यही दावे किये गये थे। गरीबी उन्मूलन के खोखले और आधारहीन दावों से माइक्रोफाइनेंस के लिए उन्माद क्यों पैदा किया गया? क्या इसका उद्देश्य गरीबी उन्मूलन के आजमाए हुए मार्ग कल्याणकारी राज्य से विमुख तो नही करना था? दरअसल इस मामले में माइक्रोफाइनेंस के पैरोकार बहुत सफल रहे थे- भारत के नीतिकार तो 1991 से ही कल्याणकारी राज्य से विमुख रहे हैं। ऐसा क्यों हुआ?

आईआरडीपी से बेतुकी तुलना

माइक्रोफाइनेंस की कर्ज वसूली में सफलता के विपरीत भारत में आईआरडीपी (इंटेग्रेटेड रूरल डेवलपमेंट प्रोग्राम- समग्र ग्रामीण विकास परियोजना) की कर्ज वसूली में भारी असफलता एक बहुचर्चित विषय रहा है। 1976 और 1999 के दौरान आईआरडीपी के अंतर्गत राष्ट्रीयकृत बैंकों ने 5 करोड़ 40 लाख परिवारों को औसतन 4175 रुपये

के बराबर ऋण दिये गये थे। इसके अतिरिक्त 2113 रुपये के बराबर औसतन इमदाद (सबसिडी) भी प्रत्येक परिवार को वितरित की गई। इस राशि का इस्तेमाल पूरक रोजगार के लिए उत्पादक संसाधनों को खरीदने के लिए ही किया जा सकता था। कर्ज वसूली की दर मात्र 41 फीसदी होने से अंततोगत्वा इस महत्वाकांक्षी परियोजना को बंद करना पड़ा था।

आईआरडीपी का गरीबी उन्मूलन पर प्रभाव नीतिकारों की अपेक्षानुसार नहीं था। इस बारे में बहुत गहन शोध अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकला कि लगभग 25 फीसदी परिवार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था जबकि मात्र 7 फीसदी परिवार ही गरीबी रेखा पार कर पाए थे।

आईआरडीपी के अंर्तगत पशुपालन सहित ऐसे ग्रामीण और हैंडीक्राफ्ट आधारित उद्योगों को चुना गया था जिनके बाजार का आकार ज्यादा व्यापक नहीं था। दरअसल यहां चुनाव की ज्यादा गुजांइश ही नहीं है। अधिक उत्पादकता वाले आधुनिक उद्योगों से कम उत्पादकता वाले परम्परागत उद्योग स्पर्धा नहीं कर सकते। कम उत्पादकता वाले परंपरागत उद्योगों के ह्रास की प्रक्रिया एक ऐतिहासिक तथ्य है।

इसी परिप्रेक्ष्य में गांधी जी ने ग्रामीण और घरेलू उद्योगों पर आधारित अर्थ व्यवस्था की संकल्पना की थी। गांधी जी ने इसका खुलासा जनजन द्वारा उत्पादन (प्राडक्शन बाई मासेज) के रूप में किया था। इसे उन्होंने आधुनिक उद्योगों द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन (मास प्रॉडक्शन) के विकल्प के रूप में चुना था। पर आईआरडीपी के अंतर्गत ग्रामीण उद्योगों को पूरक का दर्जा दे दिया गया जो कि सही साबित नहीं हुआ। गौरतलब है कि प्रोफेसर डांडेकर और प्रोफेसर रथ ने 1971 में प्रकाशित अपनी सुप्रसिद्ध कृति पावरटी इन इंडिया में ग्रामीण और घरेलू उद्योगों पर आधारित गरीबी उन्मूलन की संभाव्य कोशिशों को इसी आधार पर सिरे से खारिज कर दिया था।

उपरोक्त दलीलों की लय में आईआरडीपी पर शोधकर्ताओं ने इसके प्रारूप की खामियां इस प्रकार उजागर की हैः (1) इस परियोजना के कई सहभागी परिवारों ने इमदादयुक्त कर्ज से खरीदे उत्पादक संसाधनों को आनन-फानन में बेचकर मिली हुई रकम का इस्तेमाल अन्यत्र कर लिया। आमतौर पर इसे उपभोग के लिए ही इस्तेमाल किया गया। (2) बहुत से परिवार कर्ज द्वारा मिले उत्पादक संसाधनों का उपयुक्त प्रयोग करने में असमर्थ रहे। हर कोई उद्यमी नहीं होता। शायद इसीलिए कई परिवार उत्पादन में प्रयुक्त इनपुट्स का सही संचालन नहीं कर पाए और उन्हें घाटा उठाना पड़ा। मजदूरी पर रोजगार न मिलने पर ही कई परिवार मजबूरन माइक्रो उद्यमी बने और घाटे को सहना पड़ा। दूसरे शब्दों में बहुत से गरीब परिवारों के लिए माइक्रो उद्यमों के लिए कर्ज एक बोझ ही बन गया क्योंकि उनके पास न तो सामर्थ्य है और ना ही पर्याप्त अवसर थे। (3) कई भूमिहीन परिवार उपयुक्त स्थान के अभाव के कारण माइक्रो उद्यमों का संचालन करने में असमर्थ रहे और घाटे का शिकार हो गए। (4) दूध जैसे उत्पादों की मार्केटिंग की व्यवस्था नहीं कर पाने से भी कई कर्जदार परिवारों को कठिनाई का सामना करना पड़ा। दूध की स्थानीय मांग के अभाव और दूध की मार्केट में भेजने की अतिरिक्त ट्रांसफोर्ट लागत से भी आय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। (5) मांग से ज्यादा पूर्ति की समस्या के कारण भी कई कर्जदारों को घाटा उठाना पड़ा था। साईकिल रिक्शा की अत्यधिक पूर्ति से भी कई कर्जदारों को घाटा उठाना पड़ा था।

माइक्रोफाइनेंस की उपयोगिता के दावे की पुष्टि के लिए इसके पैरोकार अक्सर आईआरडीपी का जिक्र करते हैं। उनका कहना है कि माइक्रोफाइनेंस की सफलता अवश्यंभावी है क्योंकि आईआरडीपी की कर्ज वसूली की दर मात्र 41 फीसदी थी जबकि माइक्रोफाइनेंस की कर्ज वसूली की दर 95 फीसदी से भी ज्यादा थी। पर असली मकसद तो गरीबी उन्मलन का है। कर्जवसूली कम होने से तो आईआरडीपी का गरीबी उन्मूलन प्रभाव और ज्यादा तीव्र होना चाहिए था। पर इस मामले में आईआरडीपी की नाकामयाबी के बाद माइक्रोफाइनेंस के गरीबी उन्मूलन के दावे आधारहीन साबित होते हैं। शायद अपने गरीबी उन्मूलन के दावे के खोखलेपन को जाहिर नहीं होने देने के लिए ही माइक्रोफाइनेंस के पैरोकार आईआरडीपी का गरीबी उन्मूलन के मामले में नाकाम अनुभव का जिक्र ही नहीं करते हैं।

लगभग तीस वर्ष तक माइक्रोफाइनेंस के जबरदस्त प्रसार का आधार यह बनाया गया था कि गरीब परिवारों को माइक्रोफाइनेंस की स्थापना हेतु कर्ज देकर उनकी गरीबी के उन्मूलन का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इसमें यह अवधारणा अंर्तनिहित हैः माइक्रो उद्योगों के लिए असीमित अवसर उपलब्ध है। पर आईआरडीपी के अनुभव से उनकी संकीर्ण सीमाएं स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो जाती है। दूसरी मूलभूत अवधारणा सब कर्जदार परिवारों के उद्यमी होने की है। पर ऐसा भी सही नहीं है। यहां आईआरडीपी के अनुभव के परिप्रेक्ष्य में यह जिक्र करना भी उचित होगा शोध अध्ययनों

के अनुसार आमतौर पर उद्यमिओं की खूबियां मात्र एक तिहाई व्यक्तियों में ही पाई जाती है।

आईआरडीपी के अंतर्गत सबसिडी युक्त कर्जे उत्पादक संसाधनों की खरीद से जुड़े थे। बैंकों द्वारा इस दिशा में समुचित व्यवस्था भी की गई थी। पर माइक्रोफाइनेंस के अंतर्गत ऐसी व्यवस्था नदारद रही है। मात्र माइक्रो उद्यम के नाम पर कर्ज को नकद भुगतान द्वारा अदा कर दिया जाता है। कुछेक कर्जों का इस्तेमाल ही घोषित उद्देश्य के अनुसार किया जाता है।

ब्याज की दरों में भी भारी अंतर रहे हैं। आईआरडीपी के अंतर्गत बैंकों की ब्याज दर उनकी औसत ब्याज दरों से कम थी। दूसरी और 1990 के दशक में भारत में माइक्रोफाइनेंस की ब्याज दरें औसतन 18 फीसदी थी जो कि आईआरडीपी के मुकाबले डेढ़ गुणा से भी ज्यादा थी। 2000 के दशक में निजी (न्यूवेव) एमएफआई की औसत ब्याज दर लगभग 30 फीसदी थी। 2011 के माइक्रोफाइनेंस के सुधार के बाद कुछ अपवादों को छोड़कर ज्यादातर एमएफआई की ब्याज दर 26 फीसदी है।

गरीबी उन्मूलन में नाकाम परियोजना से कर्ज वसूली के आधार पर तुलना कर के माइक्रोफाइनेंस सेक्टर ने अपनी पीठ तो थपथपाई ही। साथ ही स्वयं को गरीबी उन्मूलन का एक उमदा तरीका भी घोषित कर दिया। यही नहीं आईआरडीपी की नाकामी के बावजूद 2002 में भारतीय नीतिकारों ने माइक्रोफाइनेंस आधारित स्वरोजगार परियोजना भी शुरू कर दी। दसवीं पंचवर्षीय योजना में स्व-रोजगार परियोजना के लक्ष्यों का भरपूर जिक्र है। ग्यारहवीं योजना के मसौदे में इस परियोजना की उपलब्धियों का जिक्र तो नहीं है पर पिछली योजना के मुकाबले लक्ष्यों में बढ़ोतरी कर दी गई है। सीगैप द्वारा माइक्रोफाइनेंस के दावे की वापसी के साथ ही बारहवीं योजना में माइक्रोफाइनेंस आधारित स्व-रोजगार कार्यक्रम को हटाकर एक नई परियोजना नेशनल रूरल एम्पलाएमेंट मिशन (राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार मिशन) की शुरुआत की घोषणा की गई है। इसी शृंखला में अब परसनल सेक्टर नाम का जुमला भी सामने आया है। यह शायद माइक्रोउद्यम का नया नाम है। सवा लाख करोड़ रुपये के कर्जों के 3 करोड़ परिवारों के मध्य आबंटन का मतलब 3 करोड़ नये रोजगार सृजित करने का दावा सरकारी तौर पर किया जा रहा है। इन दावों की हकीकत क्या है?

पर मात्र ग्लैमर और दावों के आधार पर कोई प्रतिमान अथवा विचार तीस साल के लंबे अरसे तक टिके नहीं रह सकता। माइक्रोफाइनेंस द्वारा गरीबी उन्मूलन की दलील के पक्ष में इसके पैरोकारों के पास साक्ष्य भी मौजूद रहे हैं। अपने पक्ष में उद्धरण के लिए उनके पास सुमिध शोध प्राणाली पर आधारित कई ग्रंथ और शोधपत्र है। ऐसा नहीं है कि उनके दावों को चुनौती नहीं मिलती रही है पर सुमिध शोध पर आधारित नतीजों के द्वारा के इन चुनौतियों को निष्प्रभावी बनाने में कामयाब रहे थे। पर वे वास्तविक घटनाक्रम के दबाव को निष्प्रभावी करने में कामयाब नहीं हो सके। इस परिप्रेक्ष्य में यह सवाल उभरता हैः क्या सुमिध शोध प्रणाली पर आधारित ग्रंथ और शोध पत्र एकेडमिक जांच की कसौटी पर खरे उतरते हैं?

इन खोखले दावों का इतनी देर टिकाए रखने का आखिर क्या कारण है? क्या इसका मकसद नीतिकारों को गरीबी उन्मूलन के आजमाए गए रास्ते-कल्याणकारी राज्य से विमुख करना था? क्या यह नवउदारवादी एजेंडे का हिस्सा है? (क्रमशः)

●

पत्रिका नहीं, वैचारिक आन्दोलन

सामयिक वार्ता

पढ़ें, पढ़ाएं, ग्राहक बनाएं, मित्रों को उपहार दें

लोकतंत्र की कुछ समस्याएँ

राजकिशोर

एक

प्रत्येक राजनैतिक तंत्र के साथ एक दर्शन जुड़ा होता है। कई बार घटना पहले होती है, विचार उसके बाद आता है। कई बार विचार पहले आता है, घटना उसका परिणाम होती है। राजतंत्र पहले स्थापित हुआ, उसका दर्शन बाद में आया। लोकतंत्र का विचार पहले आया, लोकतांत्रिक व्यवस्था बाद में बनी। आज राजतंत्र एक हास्यास्पद विचार प्रतीत होता है। उसके पक्ष में तर्क करना पागलपन माना जाएगा। इसके विपरीत, लोकतंत्र एक सहज और स्वाभाविक प्रणाली जान पड़ता है। पर मामला उलटा है। मानव स्वभाव को देखते हुए, जिसमें सारी सत्ता अपने हाथ में केंद्रित करने का उत्साह होता है, राजतंत्र ज्यादा स्वाभाविक है। वास्तव में लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में भी सर्वोच्च नेता बहुत कुछ सामंत की तरह आचरण करता है। प्रायः सभी देशों में, हमारे यहाँ तो निश्चय ही, कैबिनेट प्रणाली प्रधानमंत्री प्रणाली में बदल चुकी है,जबकि हम जानते हैं कि लोकतंत्र लंबे संघर्ष के बाद हासिल किया गया है। यह हमारा सौभाग्य है कि लोकतंत्र और बालिग मताधिकार, दोनों हमें एक झटके में मिल गए। स्त्रियों को वोट देने और चुनाव लड़ने का अधिकार हमारे यहाँ 1933 से है, जबकि एक दर्जन से अधिक देशों में यह अधिकार 50 और 60 के दशक में मिला। सऊदी अरब की स्त्रियों को वोट देने का अधिकार 2011 में मिला तथा कई देशों में यह अभी तक उपलब्ध नहीं है, जिनमें से एक वेटिकन सिटी भी है, जहाँ पोप के चुनाव में स्त्रियाँ भाग नहीं ले सकतीं। स्पष्ट है कि लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए और खासकर स्त्री मताधिकार के लिए लंबे समय तक संघर्ष करना पड़ा है। यह संघर्ष अभी भी खत्म नहीं हुआ है। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि लोकतंत्र जो और जैसा हमारे सामने है, उसमें सुधार की पर्याप्त गुंजाइश है।

एक प्रश्न यह है कि अन्य चीजों को बदले बिना क्या लोकतंत्र में अपेक्षित परिवर्तन लाया जा सकता है? दरअसल, कोई भी व्यवस्था एक पैकेज होती है। इस पैकेज में राज्य, समाज, संस्कृति, अर्थव्यवस्था, शिक्षा, न्याय प्रणाली आदि बहुत-सी चीजें शामिल होती हैं। किसी एक घटक को छेड़ने से बाकी घटक भी प्रभावित होते हैं और स्थिति का संतुलन बिगड़ जाता है। राजनैतिक संबंध लोकतांत्रिक हों, इसके लिए क्या यह जरूरी नहीं है कि अन्य संबंध भी लोकतांत्रिक भी हों? प्रश्न यह भी है कि क्या पूँजीवाद से लोकतंत्र का अनिवार्य संबंध है? मानव सभ्यता के इतिहास में दोनों जुड़वा बच्चों की तरह पैदा हुए। पूँजीवाद से लोकतंत्र को शक्ति मिली और लोकतंत्र से पूँजीवाद को। क्योंकि, दोनों ही व्यक्ति की स्वतंत्रता पर आधारित थे। पूँजीवाद के मूल में उद्योग-धंधे की स्वतंत्रता थी और लोकतंत्र के मूल में विचार और अभिव्यक्ति की। लेकिन दो-तीन सौ वर्षों में पूँजीवाद का विकास इतना और इस रूप में हुआ है कि वह विचार और अभिव्यक्ति का दुश्मन हो गया है। जनमत को प्रभावित करने के अनेकों तरीके निकल आए हैं। अर्थवाद और उपभोक्तावाद जीवन के बाकी सभी पहलुओं पर हावी हो गए हैं। क्या इस स्थिति में लोकतंत्र निरापद है?

राजतंत्र का दर्शन बिलकुल साफ था। वह शासन करने के दैवी अधिकार पर टिका था। राजा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि था और प्रजा पर शासन करना उसका जन्मजात अधिकार था। यह स्थिति पूरी तरह से तर्कहीन भी नहीं थी। खाने को अन्न और पहनने को कपड़ा हो या नहीं, देश में राजा का होना जरूरी था, ताकि अराजकता को रोका जा सके, जिसमें अन्न और कपड़ा दोनों कठिन हो सकते हैं। सत्ता के साथ मनुष्य का संबंध बहुत पुराना है। समाज को संगठन चाहिए और संगठन को ऐक्यबद्ध रखने के लिए सत्ता। यहाँ मनुष्य का अपने बचपन का अनुभव मार्गदर्शन करता था। जीवन की प्रभात वेला में माता-पिता ही उसके शासक होते हैं। इसी से राजा को या अधिकारी को माई-बाप न केवल कहने, बल्कि समझने की परंपरा पैदा हुई है, जो मृत्यु पर्यंत हमें बाँधे रखती है। इस परंपरा के अनुसार राजा शासक ही नहीं, पालक भी होता है। ऐसी ही अपेक्षा माता-पिता से होती है। इसलिए अच्छे राजा की कसौटी यह बनी कि उसे, सब से पहले, शासन करना चाहिए और दूसरे, जन कल्याणकारी भी होना चाहिए। संकट के समय

उसे प्रजा के काम आना चाहिए।

लेकिन कोई राजा अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करता, तो उसे इसके लिए बाध्य करने वाली कोई शक्ति नहीं थी। यह राजतंत्र का सब से बड़ा दोष है और इसीलिए उसे उत्तरदायी शासन नहीं माना जाता। सत्ता जैसी हो, वह स्वभाव से ही केंद्रीकरण चाहती है। कोई अपनी जमीन या दौलत के साथ साझा कर सकता है, पर सत्ता के साथ साझेदारी की बात सोची भी नहीं जा सकती। लोकतंत्र यहीं जीतता है। जहाँ उत्तरदायी शासन नहीं है, वहाँ लोकतंत्र नहीं हो सकता। मजे की बात यह है कि भारत में राजा के साथ-साथ ब्राह्मण ने भी अपने को अदंडनीय घोषित कर रखा था, जिसके कारण वह राज दरबार में भी निरंकुश हो सकता था। पश्चिम के बुद्धिजीवियों को यह विशेषाधिकार नहीं मिला, इसलिए उनमें से अनेक प्रताड़ित हुए और सुकरात जैसे दार्शनिकों और ब्रुनो जैसे वैज्ञानिकों को जान से हाथ धोना पड़ा। आज उसका एक रूप सचाई की खोज में लगे पत्रकारों की हत्या में दिखाई देता है। पिछले साल यानी 2015 में दुनिया भर में अपने कर्तव्य पालन में लगे 72 पत्रकारों की हत्या हुई। चीन में पता नहीं कितने लोकतंत्रवादी और मानव अधिकार कार्यकर्ता जेल में हैं।

रूसो जैसे विचारकों ने राजा की सत्ता को सीमित करने के लिए 'सोशल कांट्रैक्ट' जैसे सिद्धांत की खोज की। इस विचार के अनुसार, राजा ने जबरदस्ती लोगों पर कब्जा नहीं किया, बल्कि लोगों ने आपस में विचार-विमर्श कर अपने आप को राजा दिया। अतीत में किसी समय राजा और जनता के बीच एक सामाजिक अनुबंध हुआ था, जिसमें राजा को, कुछ शर्तों के साथ, सत्ता दी गई थी और बदले में जनता ने उसे एक निश्चित मात्रा में कर देना तथा राजा की कुछ निश्चित आज्ञाओं को मानना स्वीकार किया था। रूसो की मान्यता थी कि यदि राजा अनुबंध के अपने हिस्से यानी अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करता, तो उसे सत्ता से हटाने का अधिकार जनता को है। क्या सचमुच कभी ऐसा अनुबंध हुआ होगा? दावे के साथ कोई नहीं कह सकता। जन स्मृति में भी ऐसा कुछ नहीं है। लेकिन इस सिद्धांत के पीछे काम कर रहा विचार निराधार नहीं है। एक समय में 'सोशल कांट्रैक्ट' के सिद्धांत ने राजा की निरंकुशता को नियंत्रित करने की भावना को सबल बनाने में काफी योगदान किया था। अब हमारे पास 'सोशल कांट्रैक्ट' की जगह संविधान और कानून का शासन है, जिससे सरकारें भी उसी तरह अनुशासित होती हैं जैसे नागरिक। यह और बात है कि संविधान मछली पकड़ने का वह जाल है जिसमें छोटी मछलियाँ फँस जाती हैं और बड़ी मछलियाँ उसे चीर कर बाहर निकल जाती हैं। विजय मल्लया का उदाहरण सामने है। जबकि जेएनयू के कन्हैया को, बिना किसी प्रमाण के, महीने भर से अधिक समय तक जेल में रहना पड़ा।

राजतंत्र की एक खूबी यह भी थी कि वह एक सीधी-सादी प्रणाली थी, जिसकी कमियाँ तुरंत दिखाई पड़ जाती थीं। कुशासन के लिए किसी एक को जिम्मेदार ठहराना हो तो राजा मौजूद था। राजा अच्छा तो शासन सफल, राजा खराब तो शासन विफल। शासन अच्छा हो, इसके लिए प्रजा की कोई जिम्मेदारी नहीं थी। राजतंत्र की तुलना में लोकतंत्र एक जटिल प्रणाली है। यहाँ हर कोई राजा है। राज्य की प्रभुसत्ता लोगों के बीच से निकलती है और लोगों में जा कर समा जाती है। इससे अनेक समस्याएँ पैदा होती हैं जिनके समाधान का कोई रास्ता अभी तक नहीं निकाला जा सका है। जहाँ हजारों नहीं, लाखों नहीं, करोड़ों राजा हों, वहाँ का शासन ईश्वर ही चला सकता है। राजतंत्र की सफलता के लिए महज एक व्यक्ति का अच्छा होना काफी था, पर लोकतंत्र की सफलता करोड़ों लोगों की अच्छाई पर निर्भर होती है। इसमें नागरिकों में से हर एक का अपना योगदान होता है। कई बार राजा शासन से उदासीन हो जाता था। ऐसे ही एक भारतीय राजा को चेताने के लिए उसके दरबारी कवि को यह दोहा लिख कर उसके पास भेजना पड़ा था –

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास एहि काल
अली कली में बिंध्यो, आगे कौन हवाल

(अभी तो पराग भी नहीं आया है, मीठा मधु भी नहीं है। अभी विकास नहीं हो पाया है। जब भ्रमर इसी अवस्था में कली से बिंधा हुआ है, तो आगे का हाल कौन जानता है?)

कहते हैं, इस दोहे से अपनी नई कमसिन रानी पर लट्टू राजा अपने मोहबंध को काट पाने में सफल हुआ था। लेकिन लाखों लोगों द्वारा जुलूस निकालने और धरना देने से भी आज के राजा की आँख नहीं खुलती। कारण यह है कि वह नागरिकों की सामूहिक अंतश्चेतना का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं करता। प्रतिनिधित्व पर आधारित शासन, जिसे लोकतंत्र कहते हैं, का यह बुनियादी दोष है। इसके अलावा, प्रत्येक ऐसे प्रतिनिधि को एक निश्चित अवधि के लिए प्रतिनिधित्व का अधिकार दिया जाता है। इसके बीच में अगर वह पतित हो जाता है, तो उसे वापस बुलाने का प्रावधान अकसर नहीं है। इसलिए जहाँ कहीं भी प्रतिनिधित्व

पर आधारित शासन है, 'राइट टु रिकॉल' की व्यवस्था होनी ही चाहिए। इसी अर्थ में डॉ. राममनोहर लोहिया ने कहा था, जिंदा कौमें पाँच साल तक इंतजार नहीं करतीं।

अभी हमने राजा की उदासीनता की चर्चा की। लोकतंत्र में चूँकि असंख्य राजा होते हैं, इसलिए उदासीनता का दायरा बहुत बड़ा हो जाता है। अधिकतर लोग राज-काज से उदासीन होते हैं। वे शासन की बागडोर अपने हाथ में लेना नहीं चाहते। वे राज्य को एक आवश्यक बुराई मान कर चलते हैं और तमाम तरह के घटित-अघटित को मूक हो कर या बड़बड़ाते हुए सहने के आदी हो चुके हैं। जो चीज लोकतंत्र में इतनी व्यापक रूप से दिखाई पड़ती है, वही लोकतंत्र की जड़ों पर कुठाराघात करती है। राजा को राजकाज से उदासीन होने का अधिकार था, हालाँकि इस अधिकार का उपयोग करने के उदाहरण कम ही मिलते हैं। सत्ता हमेशा चौकस होती है। लेकिन जनता के साथ ऐसी बात नहीं है। वह हमेशा चौकस नहीं होती है। आप कल्पना कर सकते हैं कि जहाँ की पचास प्रतिशत जनता भी अपने अधिकारों और शासन के कर्तव्यों के प्रति सतर्क नहीं है, वहाँ लोकतंत्र कितनी सफलता के साथ काम कर सकता है। सोई हुई या अधनींद में जग रही जनता ही, बुनियादी रूप से, लोकतंत्र के भीतर दाखिल हो जाने वाले कीटाणुओं के लिए जिम्मेदार है, हालाँकि परंपरा लोकतंत्र के हर विचलन के लिए नेताओं को जिम्मेदार मानने की है। अगर भारत की जनता ने स्वीकार नहीं किया होता, तो जून 1975 में देशव्यापी इमरजेंसी लगाई जा सकती थी?

नागरिक की उदासीनता को तोड़ने के लिए अनिवार्य मतदान का तरीका अपनाया जा सकता है। कोई गोभी की सब्जी खाएगा या पालक की, यह चुनने की उसे पूरी स्वतंत्रता है, लेकिन कोई मतदान करे या नहीं, यह उसकी व्यक्तिगत इच्छा पर नहीं छोड़ा जा सकता। मतदान न करना अपने नागरिक होने का निषेध है। यह जरूर हो सकता है कि कोई मतदान केंद्र तक जाने का कष्ट करे और यह मत डाल कर चला आए कि मेरा मत इनमें से किसी भी उम्मीदवार के लिए नहीं है। लेकिन नोटा (नन ऑफ द एबव) वास्तव में कोई कारगर इलाज नहीं है। राज्य है, शासन है, तो उसका नेतृत्व करने के लिए किसी न किसी को होना ही चाहिए। यहाँ लोकतंत्र में बौद्धिक और आदर्शवादी लोगों की शिरकत का महत्व है। प्लेटो की मान्यता थी कि राजा दार्शनिक नहीं भी हो सकता है, इसलिए दार्शनिक को ही राजा होना चाहिए। लेकिन अभी तक क्या ऐसा हो पाया है? क्या कभी ऐसा हो पाएगा? उलटे दिखाई यह पड़ता है कि जो जितना अच्छा विचारक है, जो जितना अच्छा आदमी है, वह राजनीति से उतना ही दूर रहता है। चूँकि निम्नतर किस्म के लोग राजनीति की बागडोर सँभालते हैं, इसलिए शासन भी हमें निम्नतर कोटि का मिलता है।

इसीलिए मेरा निवेदन है कि लोकतंत्र जितनी सरल व्यवस्था जान पड़ती है, उतनी सरल वह वास्तव में है नहीं। सिद्धांत में निःसंदेह वह शासन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है, लेकिन व्यवहार में यह तब तक संभव नहीं, जब तक हममें से हरएक उसे अपना सर्वश्रेष्ठ नहीं देता। यह लोकतांत्रिक व्यवहार नहीं है कि शासन चलाने के लिए कुछ लोगों को चुन देने के बाद हम घर लौट जाएँ और ताश खेलने लगें। बेशक हमारे द्वारा चुने हुए लोग यही चाहते हैं, क्योंकि तभी उनकी मनमानी चल सकती है। लेकिन हम ऐसा क्यों चाहें? कभी भूलना नहीं चाहिए कि राजतंत्र में हमारा बहुत कुछ दाँव पर लगा हुआ नहीं होता था, लेकिन लोकतंत्र में हमारी भूख, हमारी प्यास, हमारा रोजगार, हमारा स्वास्थ्य, हमारी संस्कृति, हमारे संबंध, हमारा जीना-मरना सब कुछ दाँव पर लगा रहता है। देश में लोकतंत्र हो और लाखों किसान आत्महत्या करने को मजबूर हों, इस दृश्य में गंभीर विसंगति है। या तो यह मृत्यु झूठी है या यह लोकतंत्र झूठा है।

लेकिन यह होता कैसे है? संयुक्त राज्य अमेरिका दुनिया भर में लोकतंत्र स्थापित करता फिरता है, लेकिन उसकी अपनी समृद्धि उसके हथियार उद्योग पर टिकी हुई है। वह दुनिया भर में सब से ज्यादा हथियार बेचता है। भारत अपने को शांतिप्रिय देश बताता है। लेकिन दुनिया में सब से ज्यादा हथियार वही खरीदता है। अमेरिका में राष्ट्रपति पद की उम्मीदवारी के लिए संघर्ष कर रहे, डेमोक्रेटिक पार्टी के सदस्य बर्नी अपने को सोशलिस्ट कहते हैं, लेकिन अमेरिका के लिए उनका आदर्श देश स्वीडन और नॉर्वे हैं, जो दुनिया के बड़े हथियार निर्माता और हथियार निर्यातक देशों के नाम हैं। इन देशों की सभ्य जनता इसे कैसे सहन करती है? वैसे ही, जैसे हम किसानों की आत्महत्याओं को सहन कर रहे हैं।

दो

लोकतंत्र के मूल में दो बुनियादी धारणाएँ है। जो धारणा पूरी तरह से दिवालिया साबित हो चुकी है, फिर भी बाजार के अर्थशास्त्र में जिस पर बहुत-से सिद्धांत आधारित हैं, वह यह है कि हर आदमी अपना भला सब से अच्छी तरह जानता है। अगर ऐसा होता, तो धर्मशास्त्र और

नैतिकता की हजारों किताबों, असंख्य संतों और उपदेशकों की जरूरत नहीं पड़ती। इनकी जरूरत आज भी है, तभी इतने बाबा और धर्माधिराज पनपते रहते हैं। सैकड़ों 'सेल्फ-हेल्प' किताबें यही काम करती हैं। दरअसल, ज्ञान का पहला तकाजा यही है कि हर आदमी अपने सर्वोच्च हितों की पहचान कर सके। सभी व्यवस्थाएँ इस ज्ञान को ढँक कर रखने की कोशिश करती हैं और वे इसमें सफल भी हो जाती हैं। जाति, वर्ग, रंग, धर्म, लिंग आदि पता नहीं कितने तत्व हमारे सोच को संकुचित बनाए रखते हैं। कितनी ही तरह के अंधविश्वास हमारे आत्म-हित को विध्वंसकारी ढंग से प्रभावित करते हैं। कई बार तात्कालिक हितों को स्थायी हित मान लिया जाता है। सर्वहित में आत्महित छिपा हुआ है, यह मोटी-सी चीज अभी भी व्यापक पैमाने पर ग्रहणशीलता की माँग कर रही है। युद्ध और युद्ध की तैयारियाँ प्रत्येक देश को अपने हित में लगती हैं, जिससे जो मानव संसाधन कल्याणकारी कामों में लगते, वे बम, मिसाइलें और ड्रोन बनाने में लगाए जा रहे हैं। हित और स्वार्थ में अतर होता है। अकसर हित स्वार्थ को नहीं, स्वार्थ हित को नियंत्रित करता है। जब तक यह मनोवृत्ति कायम है, लोकतंत्र की संभावना कहाँ बनती है? मुश्किल यह है कि यह मनोवृत्ति सामयिक या सतही नहीं, भीतर तक बद्धमूल है और निकट भविष्य में जाती दिखाई नहीं देती।

हर आदमी अपना भला सब से अच्छी तरह जानता है, इसी के आधार पर अर्थशास्त्र कहा जाता है कि कंज्यूमर इज द किंग। लेकिन प्रचार और विज्ञापनों के घटाटोप में कंज्यूमर की हुकूमत कितनी चल पाती है? उसके पास ऐसे औजार नहीं होते, जिनकी सहायता से वह तय कर सके कि बाजार में उपलब्ध कौन-सा सामान अच्छा है और कौन-सा सामान अच्छा नहीं है। दूसरी तरफ, किसी भी देश में कोई ऐसा जन संस्थान नहीं है जो प्रत्येक उत्पाद की गुणवत्ता की परख कर अपना निष्कर्ष समाज के सामने रख सके। क्या यह यों ही है? या, इसके पीछे बाजार की ताकतों का कोई खेल है? बाजार का अर्थशास्त्र'परफेक्ट कंपटीशन' की भ्रांत धारणा पर आधारित है। लेकिन हम सभी जानते हैं कि वास्तविक जीवन में 'परफेक्ट कंपटीशन' नाम की कोई चीज नहीं होती। इसलिए जहाँ उत्पादक के सामने उसका लक्ष्य बहुत स्पष्ट होता है, उपभोक्ता नीम-अँधेरे में भटकता रहता है।

मेरा खयाल है, मतदाता की स्थिति भी ऐसी ही है। लोकतंत्र के पीछे भी 'परफेक्ट कंपटीशन' का सिद्धांत है। चूँकि हर कोई जानता है कि उसका भला किसमें है, इसलिए सामूहिक रूप से आसानी से तय किया जा सकता है कि सब का भला किसमें हैं। लेकिन हममें से हरएक जानता है कि हममें से कौन कितना लोकतांत्रिक है। हैरत की बात है कि इतनी अपूर्ण व्यवस्थाओं के भीतर लोकतंत्र चल कैसे रहा है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि शिक्षा की कमी, जाति, नस्ल, धर्म, जन्मस्थान आदि के आधार पर किसी भी वर्ग को मताधिकार से वंचित कर दिया जाए। लोकतंत्र के अधूरेपन को दूर करने से उठाया गया ऐसा कोई भी कदम लोकतंत्र को और ज्यादा अधूरा बनाएगा। किसी एक वर्ग के लोकतंत्र को कम करके बाकी लोगों के लोकतंत्र को ज्यादा नहीं किया जा सकता। इससे भी बड़ा सवाल यह है कि चूँकि हर आदमी लोकतंत्र का शेअरहोल्डर है और सभी के शेअर बराबर मूल्य के हैं, इसलिए यह फैसला कौन कर सकता है कि किसका शेअर कब वापस ले लिया जाना चाहिए?

यहाँ बहुमत के शासन की अवधारणा सामने आती है। अकसर बहुमत के नाम पर जो सामने आता है, वह बहुमत नहीं होता। हमारे वर्तमान प्रधानमंत्री को सिर्फ 31 प्रतिशत मतदाताओं का वोट मिला था। वास्तव में राजीव गांधी को छोड़ कर, जिन्हें इंदिरा गांधी की हत्या से पैदा हुई सहानुभूति लहर ने तीन-चौथाई बहुमत मिला था, हमारे किसी भी प्रधानमंत्री के पास वास्तविक बहुमत (कुल मतदाताओं के पचास प्रतिशत से ज्यादा वोट) नहीं रहा है। कुछ राज्यों में तो ऐसी सरकारें भी रही है, जिन्हें दस से पंद्रह प्रतिशत वोट मिला था। लेकिन किसी नेता या दल को वास्तव में बहुमत यानी 51 प्रतिशत मिलता भी है, तो 49 प्रतिशत पाने वाले का राज्य पर कोई दावा नहीं रह जाएगा, इसके पीछे कोई लोकतांत्रिक तर्क नहीं है। 51-49 का बँटवारा सिर्फ एक सुविधाजनक विभाजन है, इसे सत्ता के वितरण का आधार बनाना मतदाताओं का उपहास करना है।

क्या इसका कोई व्यावहारिक समाधान है? हाँ, है। बहुमत की सरकार की जगह सर्वदलीय सरकार हमेशा बेहतर होगी। इसके लिए दो शर्तों का पालन जरूरी है। कोई भी पार्टी संसद में मतदान के लिए ह्विप जारी नहीं करेगी अर्थात प्रत्येक सांसद को अपनी इच्छा के अनुसार वोट देने का अधिकार होगा। जिस प्रस्ताव को संसद के दो-तिहाई से कम समर्थन मिलेगा, वह भविष्य के लिए स्थगित हो जाएगा। बहुमत का इलाज सर्वमत नहीं है। बहुमत का दायरा ज्यादा से ज्यादा विस्तृत करने की जरूरत है। फिलहाल दुनिया के अधिकांश लोकतंत्रों का हाल यह है कि संसद बहुमतवाले दल की गिरवी है और पार्टी के सदस्य

अपनी पार्टी के गिरवी हैं। सोचने और बहस करने की संपूर्ण आजादी के बिना लोकतंत्र का कोई मतलब नहीं है। यह और बात है कि कितने लोग वास्तव में सोचते और बहस करते हैं। आदतें हमारी स्वतंत्रता को सीमित करती हैं – तब तक जब तक खुद लोकतंत्र हमारी आदत नहीं हो जाता।

तीन

लोकतंत्र के पीछे दूसरी दार्शनिक धारणा यह है कि एक आदमी दूसरों के हितों को न केवल जान सकता है, बल्कि उसका स्वभाव ऐसा है कि वह इसके आधार पर काम भी कर सकता है। अर्थात वह समझ सकता है कि व्यक्ति और लोक के हितों में कोई वास्तविक अंतर्विरोध नहीं है। जो लोक के लिए अच्छा है, वह व्यक्ति के लिए भी अच्छा है। जो व्यक्ति के लिए अच्छा है, वह लोक के लिए भी अच्छा है। जब हम ऐसा कहते हैं, तब लोक को हम व्यक्ति की तरह एक ठोस इकाई मान लेते हैं। लोक की संरचना में ऐसा ठोसपन है नहीं। लेकिन ऐसा भी नहीं है कि लोक अनिच्छा से साथ रह रहे आत्म-केंद्रित व्यक्तियों का समूह है। हम नदी के द्वीप नहीं हैं, न ही अपने-अपने अजनबी हैं। व्यक्ति के अस्तित्व में ही एक सारभूत सामाजिकता है। पूछने लायक सवाल यह है कि यह सामाजिकता कितनी गहरी है? सामान्यतः लोग एक-दूसरे की मदद करते हैं, पर किसी दुर्घटना से होने वाली धक्का-मुक्की या भेड़ियाधँसान में हर आदमी हर आदमी का शत्रु हो जाता है।

दुनिया का कोई देश ऐसा नहीं है जिसके भीतर कई तरह के विभाजन मौजूद न हों। मानव समाज के इतिहास में सब से मूलभूत और गहरा विभाजन वर्गों के बीच है। मार्क्स के अनुसार, मनुष्य का इतिहास वास्तव में वर्ग संघर्ष का इतिहास है। इस संघर्ष में कोई एक पक्ष ही जीत सकता है, दोनों पक्ष नहीं जीत सकते। जब भारत का संविधान लागू होने को आया, तब डॉ. भीमराव अंबेडकर ने इस तथ्य को रेखांकित किया था : 'आज हम अंतर्विरोध के एक नए युग में प्रवेश कर रहे हैं जिसमें राजनैतिक समानता तो होगी यानी एक व्यक्ति - एक वोट परन्तु आर्थिक व सामाजिक समानता नहीं होगी।' आर्थिक यानी सामाजिक समानता न होने से राजनैतिक समानता खत्म नहीं हो जाती, पर कमजोर जरूर हो जाती है। लेकिन इनमें से किस समानता को उच्चतम प्राथमिकता मिलनी चाहिए? यह पहले अंडा या पहले मुर्गी जैसा सवाल नहीं है। वास्तव में सभी प्रकार की समानताओं के लिए संघर्ष एक साथ और एक-दूसरे को सहारा देते हुए चलता है। यह अकारण नहीं है कि फ्रासीसी क्रांति के दौरान मानवता के तीन लक्ष्य एक साथ उभरे थे – स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व। इन तीनों के बीच तात्विक संबंध है यानी किसी भी एक के अभाव में बाकी दोनों नहीं रह सकते। दूसरी तरफ से देखें, तो एक पर प्रहार बाकी दोनों पर भी प्रहार होगा।

राजनैतिक सत्ता मूलभूत सत्ता है, अगर हम राजनीति का अर्थ पॉवर यानी ताकत समझते हैं। आखिर कोई बड़ा कारण होगा जिससे प्रेरित हो कर भारतीयों ने, ब्रिटिश शासन में, सब से पहले आर्थिक या सामाजिक समानता नहीं, बल्कि राजनैतिक समानता की माँग की। इसके पीछे यह विश्वास था कि राजनैतिक समानता के बल पर ही सामाजिक और आर्थिक समानता के लिए संघर्ष किया जा सकता है। संस्कृत के एक श्लोक में कहा गया है – राजा कालस्य कारणम्। आज राजा की जगह राजनीति ने ले ली है। लेकिन डॉ. अंबेडकर को जो अंतर्विरोध दिखाई दिया था, वह अभी तक समाप्त नहीं हो सका है। इसका अर्थ यह है कि राजनीति ने अपना काम ठीक से नहीं किया। वह आर्थिक और सामाजिक सत्ताओं से संघर्ष करने के बजाय स्वयं उनका नौकर हो गई। क्यों?ऐसा कैसे हुआ?

इसके उत्तर में मैं फ्रांसीसी क्रांति के तीसरे शब्द को याद करना चाहूँगा। वह शब्द है – भ्रातृत्व। विश्व के सभी धर्मों के मूल में इसकी कल्पना की गई है। उनका सार यही है कि हम सभी एक ही ईश्वर की संतान हैं, इसलिए आपस में हम भाई-बहन हैं। अगर ईश्वर को खारिज कर दिया जाए, तब भी यह तर्क अपनी जगह कायम रहता है कि प्रकृति की निगाह में कोई आदमी बड़ा और कोई आदमी छोटा नहीं है, कोई राजा नहीं है कोई प्रजा नहीं है, सभी को जीवित रहने का समान अधिकार है, इसलिए हम सभी भाई-बहन हैं और हमें एक-दूसरे के इस अधिकार सम्मान करना चाहिए। यही संबंध प्राकृतिक है, इसके अलावा किसी और चीज की कल्पना ही नहीं की जा सकती। जो प्राकृतिक नहींहै, वह लोकतांत्रिक भी नहीं हो सकता।

विडंबना यही है कि दुनिया भर में यही संबंध सब से कम दिखाई देता हैं। सामान्यतः ऊपर से हम सभी भाई-बहन हैं, पर भीतर से एक-दूसरे का गला रेतने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं। युद्ध लड़ाई के मैदान में बाद में लड़े जाते हैं, वे सब से पहले हमारे हृदय प्रदेश में लड़े जाते हैं। इसी बात को रूसो ने एक अन्य तरीके से कहा था - मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है, पर दुनिया में हर जगह जंजीरों से बँधा हुआ पाया जाता है। सार्त्र ने जब यह कहा कि दूसरे नरक हैं, तो वह इसी वास्तविकता की ओर इशारा कर रहा था।

लोकतंत्र की बुनियादी समस्या यही है। लोकतंत्र का इतिहास यही बताता है कि प्रत्येक स्वतंत्रता के लिए मनुष्य को लंबे समय तक लड़ना पड़ा है। यह यों ही नहीं है कि रोम में दासों को नागरिकता नहीं प्रदान की गई थे और यूरोप में स्त्रियों तथा संपत्तिविहान वर्ग को वोट का अधिकार मिलने में एक शताब्दी से ज्यादा लगा। सऊदी अरबिया में आज भी स्त्रियों को वोट देने का अधिकार नहीं है। यही स्थिति, विचित्र कारणों से, वेटिकन सिटी में है, जिसे कैथलिकों के स्वतंत्र देश की मान्यता मिली हुई है। हमारे अपने देश में भी अभी हाल तक बूथ कैप्चरिंग के माध्यम से लाखों कमजोर लोगों का वोट देने का अधिकार कुछ नाजायज रूप से शक्तिशाली तत्वों द्वारा हड़प लिया जाता था। अभी भी एक वर्ग का कहना है कि मुसलमान भारत में इसी शर्त पर रह सकते हैं कि वे दूसरे दर्जे का नागरिक बनना मंजूर कर लें। यूरोप में यहूदियों की स्थिति ऐसी ही थी। गाँधी जी जब दक्षिण अमेरिका गए, तो उन्होंने पाया कि भारतीय प्रवासियों को अंग्रेज अपने जूते की नोक पर रखते हैं। क्या गाँवों में दलित आज भी इसी स्थिति में नहीं हैं? उनके गाँव के गाँव जला दिए जाते हैं और किसी एक को भी सजा नहीं मिलती। मानो आग की बारिश आसमान से हुई थी।

दुर्भाग्यवश, लोकतंत्र की परिभाषा अधिकारों को केंद्र में रख कर की गई है। यह वह बुनियादी पाप है जिसकी सजा हम अभी भी भुगत रहे हैं और आगे भी भुगतेंगे। इसमें संदेह नहीं कि सब के अधिकार में सब के कर्तव्य निहित हैं। जब तक दूसरे मेरे अधिकारों का सम्मान नहीं करते, तब तक मैं अपने अधिकारों का उपभोग नहीं कर सकता, यह एक स्वतःप्रमाणित सचाई है। लेकिन कोई भी कहानी कानून की भाषा में खत्म नहीं होती। मेरा कर्तव्य सिर्फ यहीं तक सीमित नहीं है कि मैं अपने हाथ को वहीं तक सीमित रखूँ, जहाँ से आप की नाक शुरू होती है। सीमा-बोध का यह निभाव तो हमें अपने दुश्मन के साथ भी करना होता है, नहीं तो पुलिस पकड़ लेगी। पर क्या मित्र के साथ भी मेरा कर्तव्य ऐसा ही होगा? मित्रता की माँग यह है कि हम न केवल अपने अधिकारों की सीमा को पहचानें, बल्कि एक ऐसा समग्र वातावरण बनाने में अपने हिस्से का काम करें जिसमें मेरे मित्र के साथ कोई और भी व्यक्ति ऐसा व्यवहार न कर सकें। कहने की जरूरत नहीं कि भ्रातृत्व की माँग इससे भी आगे जाती है। मित्रता व्यक्तिगत पसंद-नापसंदगी का मामला है, पर भ्रातृत्व का आधार पारिवारिकता है। मनुष्य अपने को एक बृहत्तर परिवार का सदस्य मान कर ही इस धरती पर सुख-शांति से जी सकता है। मेरी समझ से, पारिवारिकता की यह अवधारणा ही लोकतंत्र है। दो आदमियों या दो समुदायों के बीच कोई भी दरार अंततः लोकतंत्र में ही दरार पैदा करती है। कर्तव्य की मिट्टी में से ही अधिकार का बिरवा पनपता है। अधिकार की मिट्टी से कर्तव्य का फूल नहीं खिलता।

चार

अब यह प्रश्न हमारे सामने है कि क्या मनुष्य की संवेदना इतनी बड़ी और विस्तृत हो सकती है कि वह कई करोड़ लोगों के सुख-दुख से वैसे ही संवेदित होता रहे जैसे वह अपने परिवार, अपने बंधु-बांधवों और अपने मित्रों के सुख-दुख से संवेदित होता है? मीडिया और दूरसंचार की टेक्नोलॉजी के विस्फोट से निश्चय ही हम में से हर एक की संवेदना का दायरा बढ़ा है, लेकिन जैसे-जैसे भौगोलिक और सांस्कृतिक दूरी बढ़ती जाती है, संवेदना का दायरा कम सघन होता जाता है। क्या लोकतंत्र के साथ भी ऐसा नहीं है? जो हम से जितना दूर है – भौगोलिक रूप से भी और सांस्कृतिक रूप से भी, उससे हमारा लोकतांत्रिक संबंध उतना ही कमजोर है। जनजातियाँ चूँकि शहरों से दूर, जंगलों में बसती हैं, इसलिए उनके दर्द को शहरों में रहने वाले मंत्री, नेता, नौकरशाह, जज और लेखक-पत्रकार नहीं समझ पाते हैं। शहर की आग और जंगल की आग, दोनों की हैसियत अलग-अलग है। यही बात स्त्री-पुरुष संबंध पर लागू होती है। ज्यादातर मामलों में वे जितने निकट होते हैं, वास्तव में उतने ही दूर होते हैं। शायद इसीलिए स्त्री-पुरुष संबंध में मानव अधिकारों की जितनी अवहेलना होती है, उतनी शायद ही किसी और क्षेत्र में होती हो। भूगोल से ज्यादा यहाँ संस्कृति काम करती है।

दरअसल, मनुष्य एक मझोले आकार का जीव है। वह न चूहा है न हाथी। लेकिन यह मनुष्य ही है, जिसके मस्तिष्क का आकार उसके शारीरिक आकार के अनुपात में बहुत बड़ा है। मनुष्य की अधिकांश उपलब्धियों का स्रोत यही है। इसी के बल पर उसने बड़े-बड़े देश बनाए हैं, बड़े-बड़े कारखाने खोले हैं और ऐसे औद्योगिक उपक्रम शुरू किए हैं जिनकी शाखा दुनिया के लगभग हर शहर में है। उद्योग-धंधों का यह संजाल कुछ मायनों में देशों से भी बड़ा हो गया है। कई महानगरों की आबादी कई देशों में रहने वालों के जोड़ से ज्यादा है। कई देश महादेशों से भी बड़े हैं। यह विचित्र स्थिति पिछले सौ साल में पैदा हुई है।

कहने की जरूरत नहीं है कि बड़ेपन की यह खोज बड़प्पन की खोज नहीं है। कबीर का दोहा है,

बड़ा भया तो क्या भया जैसे पेड़ खजूर

पंथी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर

मस्तिष्क बड़ा होने से हृदय भी बड़ा नहीं हो जाता। विचार तेजी से दौड़ते हैं और अनुभूतियाँ उनके पीछे रेंगते हुए चलती हैं। इस असंतुलन के कारण ही, कोई भी लोकतंत्र, वह जितना भी न्यायपूर्ण हो, पूर्ण नहीं हो सकता। उसमें कुछ अंतर्विरोध और दरारें रह जाती हैं। नहीं तो व्यक्तिगत स्वाधीनता का अमेरिका जितना हामी देश वियतनाम, अफगानिस्तान और इराक पर हमला नहीं करता। स्पष्टतः अमेरिका का लोकतंत्र सिर्फ अमेरिका के लिए है, दूसरे देशों के नागरिकों के लिए नहीं। यही वजह है कि बाजार का वैश्वीकरण हुआ है, नागरिकों का नहीं। विश्व व्यापार संघ के सामने संयुक्त राष्ट्र संघ लाचार है। राजनीतिक एकता के अभाव में आर्थिक या व्यापारिक एकता मानव जाति के लिए विध्वंसक साबित हो सकती है और हो रही है। मनुष्य की संवेदना सीमित होती है। अतः राज्य या व्यवस्था के आकार की भी एक सीमा है।लोकतंत्र का जन्म इतनी बड़ी और विषम व्यवस्थाओं को चलाने के लिए नहीं हुआ है। लोकतंत्र एक छोटा-सा गमला है। उससे यह उम्मीद नहीं की जानी चाहिए कि वह बरगद के लिए भी जगह बना सकता है।

स्मरणीय है कि लोकतंत्र की शुरुआत ग्रीस के दो नगर-राज्यों से हुई थी। अनुमान है कि एथेंस में डेढ़ लाख और स्पार्टा में एक लाख लोग रहते थे। हमारे देश में बुद्ध के समय में जो छोटे-छोटे गणराज्य बने, उनकी आबादी भी इससे बहुत ज्यादा नहीं थी। इन सभी राज्यों में प्रतिनिधि का चुनाव नहीं होता था। लोग खुद एक स्थान पर एकत्र हो कर महत्वपूर्ण फैसले किया करते थे। यह प्रत्यक्ष लोकतंत्र का उदाहरण था।

आज फिर यह सोचने का समय आ गया है कि क्या हमें प्रत्यक्ष लोकतंत्र की ओर नहीं लौट जाना चाहिए? बड़ी-बड़ी व्यवस्थाएँ, बड़े-बड़े तंत्र, बडे-बड़े संगठन मनुष्य की सीमित क्षमता पर बड़े-बड़े आक्रमण हैं। मजे की बात यह है कि यह बड़ापन किसी सोची-समझी योजना का अंग नहीं है। राज्य को कितना बड़ा होना चाहिए, कंपनी को कितना बड़ा होना चाहिए, इस पर विचार किए बिना ही आज के वृहत साम्राज्य खड़े हुए हैं। हम जिस सभ्यता में रह रहे हैं, वह एक अनियोजित सभ्यता है। नियोजन की दिशा में पहला कदम यही होगा – चीजों का आकार तय करना।

इसका समर्थन हमें गांधी और मार्क्स दोनों से मिलता है। दोनों ही अराजकतावादी थे – उनका विश्वास राज्यविहीन समाज में था। गाँधी जी ग्राम स्वराज्य की वकालत करते थे। उनका गाँव अतीत का या वर्तमान गाँव नहीं था। वह एक छोटे-मोटे नगर जैसा था – जिसका शासन डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के हाथ में नहीं, लोगों के अपने हाथ में होगा। इसी तरह, मार्क्स ने सभ्यता के जिस उच्चतम अवस्था के बारे में सोचा, वह कम्यूनों पर आधारित होगा। कम्यून मनुष्य की रिहाइश की एक छोटी इकाई है, जिसमें संपत्ति सामूहिक होती है। गांधी के ग्रामराज में भी ज्यादातर संपत्ति सामूहिक होगी। जब राज्य नहीं रहेगा, सिर्फ समाज होगा, तब चीजें अपने स्वाभाविक आकार में लौट आएँगी। ऐसी व्यवस्थओं में ही लोकतंत्र की शर्तें पूरी हो सकती हैं। बाकी सब भ्रम या झाँसा है।

> हम एक अरसे से इस बात को मानते के आदी बन गये हैं कि आम जनता को सत्ता या हुकूमत सिर्फ विधायिका के जरिए मिलती है। इस खयाल को मैं अपने लोगों की एक गंभीर भूल मानता रहा हूँ। इस भ्रम या भूल की वज़ह या तो हमारी जड़ता है या वह मोहिनी है, जो अंग्रेजों के रीति-रिवाजों ने हम पर डाल रखी है। अंग्रेज जाति के इतिहास के छिछले या सतही अध्ययन से हमने यह समझ लिया है कि सत्ता शासन-तंत्र की सबसे बड़ी संस्था पार्लियामेंट से छनकर जनता तक पहुँचती है। सच बात यह है कि हुकूमत या सत्ता जनता के बीच रहती है, जनता की होती है और जनता समय-समय पर अपने प्रतिनिधियों की हैसियत से जिनको पसंद करती है, उनको उतने समय के लिए सौंप देती है। यही क्यों जनता से भिन्न या स्वतंत्र पार्लमेंटों की सत्ता तो क्या हस्ती तक नहीं होती। सत्ता का असली खजाना या भंडार तो सत्याग्रह की या सिविल नाफरमानी की शक्ति में है।
>
> **गाँधीजी,** रचनात्मक कार्यक्रम, 1946

कश्मीर की पीड़ा

आशुतोष कुमार

कश्मीर का शरीर ही नहीं, मन भी घायल है। शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में उसने भारत के साथ जुड़ने का निर्णय इसलिए किया था कि यह गांधी और नेहरू का देश था और भारत से उसे न्याय और लोकतांत्रिक व्यवहार की आशा थी। लेकिन विलय के बाद कश्मीर की जनता ने जिस किसी पर भरोसा किया, उसी ने उसके साथ विश्वासघात किया - जवाहरलाल नेहरू ने, शेख अब्दुल्ला ने, इंदिरा गांधी ने, फारूक अब्दुल्ला ने, राजीव गांधी ने। आज वह गुस्से में है – और दिशाहीन भी। लेखक का कहना है कि फौज के सहारे उसे अनंत काल तक भारत के साथ रख पाना कठिन होगा, लेकिन संवाद की शुरुआत के लिए जरूरी है कि कश्मीर की जनता को भी वे लोकतांत्रिक अधिकार मिलें जो देश के बाकी हिस्सों की जनता को मिले हुए हैं। लोकतंत्र की बहाली ही कश्मीर की पीड़ा को कोई रचनात्मक रूप दे सकती है।

कश्मीर एक नए मोड़ पर

कश्मीर में हालात बेहद संगीन हैं। बीते नौ अगस्त को खुद गृहमंत्री राजनाथ सिंह ने राज्यसभा में यह बयान दिया था।दस अगस्त को राज्य सभा में कश्मीर की स्थिति पर चर्चा हुई। बारह अगस्त को सर्वदलीय बैठक भी हो चुकी है। पन्द्रह अगस्त को लालकिले से भाषण देते हुए प्रधानमंत्री ने बलूचिस्तान, गिलगिट-बाल्टिस्तान और पाक–अधिकृत कश्मीर का जिक्र किया। भारतीय कश्मीर की चर्चा नहीं की। बलूचिस्तान आदि के जिक्र को अहम नीतिगत बदलाव के रूप में देखा जा रहा है।

भारत ऐसी टिप्पणियों से बचता रहा है। 16 जुलाई 2009 को शर्म-अलशेख से जारी भारत और पाकिस्तान के संयुक्त बयान में पहली बार बलूचिस्तान का जिक्र आया था। तब बीजेपी के नेताओं ने इसे भारत के लिए शर्मनाक दिन बताया था। कश्मीर मुद्दे पर पाकिस्तान के बयानों को भारत अपने 'आंतरिक मामले में हस्तक्षेप' करार देता है।इस तरह के हस्तक्षेप को वैधता न मिले, इसीलिए स्वयं बलूचिस्तान और तिब्बत जैसे मुद्दों पर बोलने से बचता रहा है। पहली बार उसने ऐसा खतरा उठाना तय किया है।

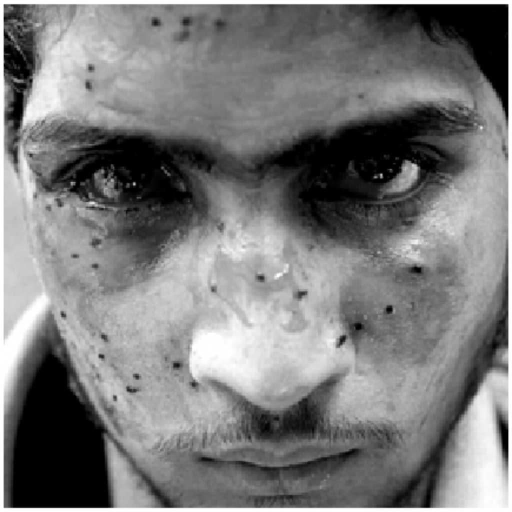

खतरा यह है कि अगर अंतरराष्ट्रीय समुदाय द्वारा कश्मीर में मानवाधिकारों का प्रश्न उठाया जाता है तो भारत के लिए अब इसे अपने आंतरिक मामले में हस्तक्षेप बता कर टाल देना आसान नहीं होगा।ऊपर से देखने पर भारत की नई नीति आक्रामक लग सकती है। ध्यान से देखा जाए तो यह एक तरह से कूटनीतिक समर्पण है।आज तक भारत जोर दे कर कहता आया था कि कश्मीर के मुद्दे पर किसी तीसरे पक्ष को दखलअंदाजी करने की इजाज़त नहीं है।अब वह एक शिकायत-कर्ता देश के रूप में अंतरराष्ट्रीय समुदाय के सामने पाकिस्तान के बराबर खडा हो गया है। पाकिस्तान लम्बे समय से कश्मीर का रोना रोता रहा है और दुनिया आम तौर पर अनसुना करती रही है। कहीं भारत की शिकायतों का भी यही हश्र न हो।

प्रधानमंत्री के लाल किले वाले भाषण पर प्रतिक्रिया देते हुए अमेरिकी राज्य विभाग की प्रवक्ता एलिजाबेथ त्रूदों ने पाक-अधिकृत कश्मीर का जिक्र किए बगैर भारतीय कश्मीर में चल रहे हिंसक टकराव पर चिंता प्रकट की और संकट के समाधान के लिए 'भारत और पाकिस्तान के बीच बातचीत' की जरूरत को रेखांकित किया। यह भारत की इस पोजीशन की आलोचना है कि वह भारतीय कश्मीर के हालात पर बातचीत नहीं करेगा।

भारत की असुविधाजनक कूटनीतिक स्थितिके पीछे कश्मीर के बिगड़ते हुए हालात हैं। चालीस से अधिक दिनों से कर्फ्यू के बावजूद हिंसक टकराव जारी है। आठ जुलाई को सुरक्षा बलों के हाथों हिजबुल मुजाहिदीन के कमांडर बुरहान वानी की मौत हुई। वानी को कश्मीर का नया पोस्टर बॉय कहा जाता था। उसके जनाजे में अभूतपूर्व भीड़ उमड़ी। समूचे कश्मीर में लाखों लोग उसके मातम में सडकों पर निकले। तब से विभिन्न इलाकों में पत्थरबाजी की घटनाएं हो रही हैं। इन्हें नियंत्रित करने के लिए सुरक्षा बलों को कठोर कार्रवाई करनी पड़ी है। आंसू गैस, छर्रा–बन्दूकों और गोलीबारी का जम कर इस्तेमाल हो रहा है। इन कार्रवाइयों में अब तक पैंसठ से ज्यादा लोगों को जान से हाथ धोना पड़ा है। घायलों की संख्या हजारों में है। बड़ी संख्या उन घायलों की है, जो छर्रों से अपनी एक या दोनों आँखें गंवा बैठे हैं। उपद्रवी भीड़ को नियंत्रित करने के लिए छर्रा-बन्दूकों का इस्तेमाल दुनिया में कहीं नहीं होता।कभी गोली चलानी पड़े तो भी निशाना आँखों को नहीं, पैरों को बनाया जाता है। भारत में भी छर्रों का सिलसिला 2010 से ही शुरू हुआ है।इन बन्दूकों का असर देख कर कश्मीर गए एम्स के डॉक्टर भी विचलित हो उठे। उन्होंने इनके इस्तेमाल पर रोक लगाने की मांग की। यह मांग संसद के भीतर भी उठी। लेकिन अब भी इन बन्दूकों का इस्तेमाल अबाध रूप से जारी है।

दुनिया भर में खबरें छप रही हैं। पाकिस्तान को शोर मचाने का सुनहरा मौका हासिल हो गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ के मानवाधिकार उच्चायुक्त ने जांच-पड़ताल के लिए भारत और पाकिस्तान से कश्मीर के दोनों हिस्सों में आने की इजाजत मांगी। न मिलने पर निराशा जताई। भारत पर जवाब देने का दबाव बढ़ता जा रहा है। इससे बचने का बलूचिस्तान की तरफ दुनिया का ध्यान खींचने के सिवा और कोई उपाय उसे सूझ नहीं रहा।

सैनिक कार्रवाई की सीमाएं

इसमें कोई शक नहीं कि कश्मीर की समस्या अपने इतिहास के सब से नाजुक दौर में है।2008 और 2010 के तूफान से गुजर कर आए कश्मीर में 2014 के चुनाव नई उम्मीद ले कर आए थे। इन चुनावों में 65 प्रतिशत से ज्यादा वोट पड़े थे। जम्मू-कश्मीर के इतिहास में पहले कभी मतदाताओं ने चुनावों में इतनी रुचि नहीं दिखाई थी। आम तौर पर शान्ति थी। पर्यटन उरूज पर था।

लेकिन 2016 के आते-आते हालात एकदम पलट गए।इस तीखे बदलाव की सबसे भरोसेमंद गवाही खुद सेना के एक शीर्षस्थ अधिकारी लेफ्टिनेंट-जनरल जी एस हूडा ने दी। उन्होंने एक इंटरव्यू में एसोसिएटेड प्रेस को बताया कि कश्मीरी लड़ाकों के खिलाफ अभियान चलाना इन दिनों बेहद मुश्किल हो गया है।सेना के लिए आम जनता की सहानुभूति बहुत कम हो गई है। लोग लड़ाकों की तरफ़ झुक गए हैं। अगर आस-पास लोगों की भीड़ हो तो सुरक्षा कार्रवाइयों के दौरान पहले जैसी निश्चिंतता महसूस नहीं होती। कश्मीर में सेना जो कर सकती थी, कर चुकी है। इससे आगे कुछ करने की स्थिति नहीं है।वृत्तांत (नैरेटिव) की लड़ाई में हमारी हार हो रही है। हमारी बताई कहानी की जगह लोग लड़ाकों की कही कहानी पर भरोसा करने लगे हैं।कश्मीर में पहली बार सेना को इतनी प्रतिकूल परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा है।

लेफ्टिनेंट-जनरल हूडा के इस बयान में साफगोई और सचाई है।आंतरिक संघर्षों में जनता के समर्थन के बगैर कोई फौज जीत नहीं सकती। फौज गोपनीय सूचनाओं और स्थानीय सहयोग के लिए जनता पर निर्भर करती है। अगर लोग फौज की जगह लड़ाकों के साथ सहयोग करने लगें और फौजी कार्रवाइयों में बाधा डालने लगें तो किसी भी फौज के लिए देर तक लड़ना संभव नहीं है। अफगानिस्तान और इराक में दुनिया की ताकतवर फौजों के साथ ऐसा होते देखा गया है। जमीन पर जीतने की पहले किसी भी फौज को वृत्तान्त की लड़ाई जीतनी होती है।

ध्यान देने की बात है कि अफसर का यह बयान बुरहान वानी की मौत के पहले का है। स्थिति अब कई गुना अधिक खराब हो चुकी है। कठोरतम सैनिक कार्रवाई के बावजूद लोग हजारों की संख्या में बाहर निकल रहे हैं।शहरों से ले कर गांवों तक यही सिलसिला चल रहा है। प्रदर्शन होते हैं। पत्थरबाजी होती है। सेना रोकती है। छर्रे–गोलियां चलती हैं। लोग मरते हैं। घायल होते हैं। हर एक मौत के बाद फिर वैसे ही बड़े विरोध–प्रदर्शन शुरू हो जाते हैं।

सेना की कार्रवाई में 'अतिरेक' की चर्चा संसद तक में हुई है। प्रदर्शनकारियों के चेहरों और आँखों पर निशाना साधने का औचित्य साबित करना सचमुच कठिन है। घायलों को ढोने वाली एम्बुलेंसों को भी निशाना बनाया जा रहा है।शायद इस भय से कि कहीं उनमें आतंकवादी न छुपे हों। एम्बुलेंस चलाते हुए जिन ड्राइवरों को छर्रे लगे, उनमें एक गुलाम मुहम्मद सोफी हैं। वे चौदह साल के एक

बच्चे समेत दो लोगों को हस्पताल ले जा रहे थे। उनके दाहिने हाथ में दो सौ छर्रे लगे। खून बहता रहा, लेकिन एक हाथ से ड्राइव करते हुए उन्होंने मरीजों को सकुशल हस्पताल पहुंचाया। युद्ध के दौरान भी एम्बुलेंस को निशाना बनाने की मनाही होती है।अभी तक एम्बुलेंस में आतंकियों के छुपे होने का कोई मामला सामने नहीं आया है। लेकिन एक हद तक बढ़ जाने के बाद भय अपना पुनरुत्पादन करने लगता है। उसे अपने अतिरिक्त किसी दूसरे आधार या तर्क की जरूरत नहीं रह जाती। एटीएम मशीन के एक खवाले के शरीर में तीन सौ छर्रे मिले।उसकी मृत्य हो गई।

कश्मीरी अखबारों में रोज खबरें छप रही हैं कि दूर-दराज़ के गांवों में फौज की रेड हो रही है। लोगों का कहना है कि बिना किसी उकसावे के दमनात्मक कार्रवाइयां की जा रही हैं। अरिपंथान में ऐसी एक कार्रवाई में चार लोग मारे गए।इसी तरह ख्रेव में में तीस साल के एक लेक्चरर को पीट पीट कर मारा डाला गया।केंद्र द्वारा सार्वजनिक रूप से बार बार दिए जा रहे अधिकतम संयम के निर्देश के बावजूद सरक्षा बलों की आक्रामकता में कोई कमी नहीं आ रही। कर्फ्यू लगातार जारी है।मोबाइल – इंटरनेट सेवाएं अक्सर बंद कर दी जाती हैं। कुछ दिनों के लिए अखबारों का वितरण भी रोका गया।

लेकिन क्या इन 'अतिरेकों' के लिए सुरक्षा बलों को ज़िम्मेदार ठहराया जा सकता है? सैन्य एजेंसियां हमेशा सरकार द्वारा तय की गई नीतियों को सरकार द्वारा सुझाए गए ढंग से लागू करती हैं। अगर ऐसा न करें तो सरकार उन्हें तत्क्षण रोकसकती है। भारत में सेना के पास कोई स्वायत्त सत्ता नहीं है, जैसी उसे पाकिस्तान या म्याम्मार में हासिल है।तो क्या सरकार आंतरिक रूप से दमन के बेरहम तरीकों के इस्तेमाल को बढ़ावा दे रही है, और सार्वजनिक रूप से संयम बरतने का निर्देश जारी कर रही है? अगर ऐसा है तो यह एक पाखण्डपूर्ण स्थिति है। यह देश के अलावा सेना के साथ भी धोखा है।किसी भी सेना के लिए सब से कठिन परिस्थिति वह होती है, जब उसे आंतरिक संघर्षों से निपटने के काम में लगा दिया जाता है। सेना की सारी तैयारी शत्रु सेना से युद्ध करने के लिए होती है। शत्रु से लड़ते हुए मरने–मारने का एक गौरव होता है।'शत्रु' अगर लोगों के बीच छुपा हुआ हो तो अपने ही देश की जनता से युद्ध जैसी स्थिति बन सकती है। इस युद्ध में न मारने का गौरव है, न मरने का संतोष। खतरा सब से अधिक, क्योंकि दुश्मन अदृश्य है। वह कभी भी, कहीं से भी, प्रकट हो सकता है। सैनिक के लिए इससे अधिक तनावपूर्ण स्थिति नहीं हो सकती। अगर उसे लम्बे समय तक, जान हथेली पर रख कर,ऐसा काम करना पड़े, जिससे उन्हीं लोगों के मन में नफरत और गुस्सा पैदा होता हो,जिनके लिए जीने-मरने का संकल्प ले कर उसने अपने जीवन का नक्शा बनाया था, तो इसके अवांछित मनोवैज्ञानिक नतीजे हो सकते हैं।

तिस पर सरकार उसके हाथों हुई मानवाधिकार की हर चूक को 'अतिरेक' बता कर 'संयम' बरतने के निर्देश जारी कर देती है।स्वयं ऐसे हर पाप की जिम्मेदारी से अपने हाथ झाड़ लेती है। जांच, सजा और सार्वजनिक अपमान का खतरा हमेशा सैनिक के सर पर ही मंडराता है।ऐसे में यह नामुमकिन है कि उसका व्यवहार हमेशा संयत बना रहे। यह अकारण नहीं है कि पिछले दशक में सेना में मनोरोग, आत्महत्याएं और बन्धु-हत्याएं बढ़ी हैं। हर साल तक़रीबन सौ सैनिक खुद अपनी जान ले रहे हैं।2014 में रक्षा मंत्री परिक्कर द्वारा दी गई जानकारी के मुताबक सन 2007 और 2008 में यह संख्या क्रमशः 142 और 150 थी। इतनी बड़ी कीमत चुकाने के बाद भी सेना के भीतर वृत्तान्त की लड़ाई में हार का अहसास बढ़ता जा रहा है। इस त्रासद लड़ाई में जीत जैसी कोई चीज होगी, इसकी उम्मीद लगभग खत्म हो चुकी है। क्या सेना की ऐसी हालत देश के हित में है?

आज कश्मीर कल भारत

आजादी के बाद से ही कश्मीर पाकिस्तान की राजनीति का केन्द्रबिंदु रहा है। इस राजनीति ने पाकिस्तान को सैन्य तंत्र में बदल दिया है। लोकतंत्र वहां सेना के रहमो-करम पर जिंदा है।जैसे-जैसे कश्मीर भारतीय राजनीति का केन्द्रबिंदु बनता जाएगा, भारत के लिए भी ऐसी परिणति से बचना कठिन होता जाएगा।

कश्मीर में लोकतंत्र को पनपने का अवसर नहीं मिला। जम्मू-कश्मीर समेत समूचे उत्तर-पूर्व में अफ्स्पा लागू है। एनएसए और यूएपीए जैसे दमनकारी 'विशेष' कानून देश भर में लागू हैं। राज्यों में उनके अपने विशेष कानून हैं। आसाधारण परिस्थिति और आपात स्थिति के तर्क से इन कानूनों को जायज ठहराया जाता है। इनमें से बहुतेरे कानून अंग्रेजों के उन कानूनों से भी अधिक काले हैं, जिनके खिलाफ भारतवासियों ने आजादी की लड़ाई लड़ी थी। यह

भी सर्वज्ञात है कि इन कानूनों का सब से अधिक दुरुपयोग कमजोर वर्गों, जैसे आदिवासियों, मुसलमानों और दलितों, के विरुद्ध होता आया है। अगर 'असाधारण' और 'विशेष' कानून स्थायी और आम हो जाएं तो लोकतंत्र पर सैन्यतंत्र पर हावी हो जाता है।

यथास्थिति के पक्ष में जनमत बनाने के लिए उग्र, आक्रामक और अतार्किक राष्ट्रवाद की जरूरत होती है। ऐसे माहौल में बातचीत, बहस और विचार-विमर्श की गुंजाइश नहीं रह जाती। छोटी से छोटी असहमति को भी देशद्रोह करार दे कर दबा दिया जाता है। यथास्थितिवादी सरकार असहमति और बहस के विस्तार का खतरा नहीं उठा सकती। उसके पास असुविधाजनक सवालों के उत्तर नहीं होते। उसे मजबूरन दमनकारी कानूनों और धार्मिक भावनाओं का इस्तेमाल करना पड़ता है।

फिर इस वातावरण को बनाए रखने के लिए यथास्थिति कायम रखनी पड़ती है। संकट के नाम पर ही इस कष्टप्रद राजनीतिक वातावरण को जनता के लिए स्वीकार्य बनाया जा सकता है।संकट नहीं तो विशेषाधिकारों का तर्क नहीं।

कश्मीर में बढ़ता हुआ दमन नफरत और उन्माद की राजनीति को जनाधार मुहैया करता है। लोग रोज-ब-रोज की अपनी तकलीफों को भूल कर सरकार के साथ खड़े होने लगते हैं। कश्मीर का संकट राजनीतिक तंत्र के संकट का समाधान बन जाता है।

इस तरह कश्मीर के संकट और देश में उन्माद की राजनीति का दुश्चक्र बन जाता है। दोनों एक-दूसरे की लिए जरूरी और मजबूती देने वाले बन जाते हैं। यह दुश्चक्र राजनीतिक वर्ग का रक्षा-कवच है।भले ही जनता पर दमनकारी शिकंजा और कस जाए।

यों 'कश्मीर' घाटी से निकल कर देश भर में व्यापने लगता है।

कश्मीर संकट के मिथक

जाहिर है, कश्मीर में यथास्थिति देशहित में नहीं है। इसके दुष्परिणाम कश्मीर की जनता को, भारतीय सेना को, देश की बाकी जनता को भी भुगतने पड़ रहे हैं। कश्मीर का संकट भारतीय लोकतंत्र को खतरे में डाल रहा है। उन्मुक्त बातचीत और जीवंत बहसों के लोकतांत्रिक वातावरण की जगह देश भर में उन्माद, हिंसा और दमन का लोकतंत्र-विरोधी वातावरण बन रहा है। लेकिन, समाधान क्या है?

मैं यहां समाधान का सवाल भारत के नजरिए से उठा रहा हूं।

सभी हिस्सेदारों के लिए कश्मीर के संकट का मतलब अलग-अलग है। समाधान संकट की पहचान पर निर्भर करता है। बहुत-से कश्मीरियों की नजर में कश्मीर पर भारत का कब्जा अवैध है।उनका कहना है कि विलयपत्र पर राजा ने दस्तखत किए थे। अवाम से उसकी ताईद कराने का काम अब तक बाकी है। यह ताईद विलय की शर्त थी। उनके मुताबिक भारत ने यह शर्त पूरी नहीं की। उसने फौज-फांटे के बल पर कश्मीर पर कब्जा कर रखा है। उनके लिए कश्मीर संकट का एकमात्र समाधान कश्मीर की आजादी है। कुछ के लिए पाकिस्तान के साथ विलय भी एक विकल्प हो सकता है।भारत-समर्थक कुछ लोग 1953 से पहले की स्थिति की बहाली की बात करते हैं, जब धारा 370 के प्रावधानों को कमजोर नहीं किया गया था। इसका मतलब है रक्षा, विदेशी मामले और संचार को छोड़ कर बाकी सभी मामलों में कश्मीर की पूर्ण स्वायत्तता।

लेकिन यहां मैं एक गैर-कश्मीरी भारतीय नागरिक के नजरिए से बात करना चाहता हूं। हमारे कश्मीर संकट का समाधान क्या है? उस राजनीतिक-सामाजिक दुश्चक्र से निजात पाने का रास्ता क्या है, जिसका केन्द्र कश्मीर की 'असामान्य' स्थिति है?

इस सवाल का जवाब इस बात पर निर्भर करता है कि हमारी नजर में कश्मीर संकट की असली वजह क्या है।

यहीं हमारी मुलाक़ात कश्मीर संकट के बहुतेरे मिथकों से होती है।

बहुत-से लोग मानने लगे हैं कि कश्मीर के संकट के पीछे असली वजह पाकिस्तान है। संसद में हुई हालिया बहस में स्वयं गृह मंत्री ने कहा कि कश्मीर में जो कुछ हो रहा है, उसके लिए पाकिस्तान जिम्मेदार है। जब तक पाकिस्तान को सबक नहीं सिखाया जाता, कश्मीर का मसला हल नहीं होगा। लेकिन पाकिस्तान को सबक कैसे सिखाया जाए?

नया आइडिया यह है कि पाकिस्तान को बलूचिस्तान में उसी तरह फंसा दिया जाए, जिस तरह उसने हमें कश्मीर में फंसा रखा है। इसके अपने कूटनीतिक खतरे हैं, जिनका जिक्र लेख की शुरुआत में है। दूसरे, पाकिस्तान भारत की तरह ही एक एटॉमिक पावर है। इसलिए हवा में चाहे जितनी तलवार भांज ली जाए, भारत और पाकिस्तान

के बीच वास्तविक युद्ध अब सम्भव नहीं है। दोनों खुद को बर्बाद करने को तैयार भी हो जाएं तो दुनिया, माने अमेरिका, उन्हें ऐसा करने नहीं देगी। अमेरिका को अपने ही कारणों से पाकिस्तान की जरूरत है। वह पाकिस्तान का इस्तेमाल कथित अल क़ायदा के खिलाफ अपने सैनिक अड्डे की तरह करता है। इसलिए भारत उससे लाख दोस्ती कर ले, न तो वह भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध की इजाजत देगा, न ही कश्मीर के मसले पर पलड़े को भारत के पक्ष में झुक जाने की।ऊपर अमेरिकी राज्य विभाग की प्रवक्ता के ताजा बयान का जिक्र किया गया है, जिससे यह बात एकदम साफ हो जाती है।

पाकिस्तान की पीठ पर चीन का हाथ भी है। चीन के आर्थिक–राजनीतिक हित भी भारत और पाकिस्तान दोनों के साथ जुड़े हुए हैं। वह भी भारत और पाकिस्तान को संतुलित करने वाले कश्मीर नाम के लिवर के साथ अधिक छेड़-छाड़ गवारा नहीं कर सकता। चीन और अमेरिका दोनों का स्वार्थ इसी में है कि कश्मीर में यथास्थिति यानी भारत-पाकिस्तान के बीच 'नियंत्रित शत्रुता' बनी रहे। दोनों को एक दूसरे का भय दिखा कर अपना उल्लू सीधा किया जा सके। वैसे ही जैसे दोनों मुल्कों के शासक वर्ग का हित कश्मीर के मसले को जिंदा रखने में है, उसे हल करने में नहीं।

कितना जिम्मेदार है पाकिस्तान

क्या सचमुच पाकिस्तान ही कश्मीर संकट के लिए पूरी तरह जिम्मेदार है? कश्मीर की वर्तमान 'अशांति' सुरक्षा बलों के हाथों बुरहान वानी की मौत से उत्प्रेरित है।इस पर एक बहस यह है कि बुरहान को ठिकाने लगाने का यह सही वक़्त था या नहीं। राज्य की कमान एक अनुभवहीन मुख्यमंत्री के हाथ में थी।सत्ताधारी गंठबंधन के भीतर इतना तनाव था कि पुराने मुख्यमंत्री की मौत के बाद कई दिनों तक राजनीतिक अनिश्चितता बनी रही थी।बुरहान की सब से ज्यादा सक्रियता सोशल मीडिया पर थी।उसका चेहरा जाना-पहचाना था। उसने जान-बूझ कर चेहरा छुपाया नहीं था। वह लम्बे समय से एजेंसियों के रडार पर था। उसे आसानी से गिरफ्तार किया जा सकता था। ऐसा होने पर निश्चय ही वह भावनात्मक प्रतिक्रिया न होती, जिसने आज कश्मीर में अभूतपूर्व संकट खड़ा कर दिया है।

जो भी हो, बुरहान की मौत में पाकिस्तान का कोई हाथ नहीं है।

इसके पहले 2008 और 2010 में जन आक्रोश प्रकट हुआ था। क्रमशः अमरनाथ यात्रा ट्रस्ट को जमीनें सौंपने के सरकारी फैसले और फर्जी मुठभेड़ में तीन निर्दोष कश्मीरियों की हत्या के बाद। फर्जी मुठभेड़ के मामले में जांच हुई और दोषी पाए गए सात फौजियों को सजाभी मिली। जाहिर है, इन घटनाओं में पाकिस्तान की कोई भूमिका नहीं थी।

बीते दो दशकों में जब कभी कश्मीर अशांत हुआ, स्थानीय कारणों से हुआ। अन्यथा शान्ति बनी रही। इसलिए अशांति के लिए पाकिस्तान को 'श्रेय' देना तर्कसंगत नहीं जान पड़ता।

कश्मीर में नब्बे के दशक में चले आतंकवादी आन्दोलन के प्रमुख सूत्रधार जरूर पाकिस्तान में बैठे लश्करे-ताइबा और जैशे मुहम्मद जैसे संगठन थे। माना जाता है कि इन संगठनों को पाकिस्तानी सेना और सरकार का सक्रिय सहयोग हासिल था।सोवियत संघ के पतन के बाद अफगानिस्तान में पाक–पोषित,अमेरिका-समर्थित तालिबान के पास काम की कमी हो गई थी। कश्मीर में आतंकी गतिविधियां बढ़ा कर वे अपने लड़ाकों को नए काम पर लगा सकते थे। साथ ही, पाकिस्तानी फौज के साथ अपने समीकरण भी साध कर रख सकते थे।

कश्मीर की जनता के मन में भारतीय राज्य के खिलाफ जो गुस्सा धीरे-धीरे इकट्ठा होता गया है, उससे आतंक के इन व्यापारियों को कश्मीर में मनचीता माहौल मिल गया।तो भी नब्बे के दशक में स्थानीय युवकों की भागीदारी कम थी।आतंक को अवाम का सक्रिय समर्थन हासिल नहीं था।

2001 में नाइन इलेवन हुआ और अमेरिका ने तालिबान के खिलाफ़ विश्वव्यापी युद्ध का आगाज कर दिया। बदली हुई परिस्थितियों में पाकिस्तान को तालिबान के सक्रिय समर्थन से हाथ खींचने पड़े। इसी के साथ कश्मीर में आतंकी गतिविधियां सिमटती चली गईं।आजघाटी में विदेशी या विदेशों में प्रशिक्षित लड़ाकों की संख्या अत्यंत सीमित है।2004 के बाद से घाटी में आतंकी घटनाओं का ग्राफ तेजी से नीचे गिरता चला गया है।

आज की स्थिति बिलकुल जुदा है।

वर्तमान अशांति में न केवल स्थानीय युवक भारी संख्या में शामिल हैं, बल्कि उन्हें आम जनता का भरपूर समर्थन मिल रहा है।इनके हाथों में विदेशी हथियार नहीं हैं, गली-सड़क से उठाए गए पत्थर हैं।माता-पिता,जो नब्बे के

दशक में अपनी युवा संतानों को बरजते थे, आज उनका उत्साह बढ़ाते नजर आ रहे हैं। जनाजों में आम लोगों की विराट भागीदारी दिखा रही है कि राज्य का भय समाप्त हो चुका है। बच्चे और महिलाएं भी जलसों-जुलूसों में शरीक हो रहे हैं। आज कश्मीर का कोई जानकार स्वीकार नहीं करेगा कि वर्तमान अशांति पाकिस्तान द्वारा प्रेरित या प्रायोजित है।

कश्मीर से पाकिस्तान का संबंध जोड़नेवाले यह भूल जाते हैं कि शेख अब्दुल्ला के नेतृत्त्व में कश्मीर की जनता ने उस वक्त पाकिस्तान की जगह भारत का समर्थन किया था, जब देश में साम्प्रदायिक तनाव चरम पर था। वे होलोकास्ट के बाद बीसवीं सदी की दूसरी सब से बड़ी त्रासदी भारत विभाजन के दिन थे।

कश्मीर में प्रतिरोध का मुख्य एजेंडा आजादी है, पाकिस्तान के साथ विलय नहीं। यही कारण है कि लश्कर या जैश को कश्मीर की जनता का व्यापक समर्थन नहीं मिला। हुर्रियत के भीतर भी पाकिस्तान के साथ विलय के समर्थक केवल सैयद अली शाह गिलानी हैं। गिलानी साहब ने 2014 में कश्मीर के अवाम से बार-बार चुनाव बहिष्कार की अपील की। हुर्रियत के दूसरे नेताओं ने भी इसका समर्थन किया। बावजूद इसके, इस चुनाव में मतदाताओं का प्रतिशत सब से ज्यादा रहा। साफ जाहिर है कि हुर्रियत कश्मीर की जनता का सार्वकालिक प्रतिनिधि नहीं है।वह कश्मीर की जनता से किए अपने वादे पूरे नहीं कर सकी।इसी कारण किसी जमाने में लोकप्रिय रहे उसके सभी नेता एक-एक कर अप्रासंगिक होते गए। वर्तमान अशांति के समय जनता भले ही हुर्रियत नेताओं द्वारा जारी कैलेंडर का पालन कर रही हो, यह अभूतपूर्व दमन के सामने प्रतिरोध को टिकाए रखने की भावना के कारण है, हुर्रियत नेताओं की अपील के कारण नहीं।

कहा गया कि चुनावों में भागीदारी का मतलब यह नहीं है कि कश्मीर के लोगों ने भारत के संविधान को मंजूर कर लिया है। यह ठीक है, लेकिन इतना तो है कि कश्मीर के मतदाता ने भारतीय राज्य से कुछ उम्मीद लगाई थी।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से जुड़े लेखक राकेश कुमार सिन्हा एक राष्ट्रीय चैनल पर कहते सुने गए कि कश्मीर समस्या की मूल वजह मस्जिदों में दी जाने वाली कट्टरतावादी तकरीरें हैं। उन्होंने रोज़गार के अभाव, विकास की धीमी गति और मानवाधिकारों की दुर्दशा जैसे कारकों को समस्या की मूल वजह बताने का जोरदार खंडन किया। उनकी इस दूसरी बात का समर्थन कश्मीर के अलगाववादी नेता भी करते हैं। पिछले दिनों केंद्र सरकार की तरफ से कश्मीर के विकास की लम्बी-चौड़ी योजनाओं की घोषणा की गई। प्रधानमंत्री ने बीते नौ अगस्त को 'भारत छोड़ो' दिवस के अवसर पर कश्मीर में विकास का संकल्प दुहराया। कश्मीर के लोगों को ये घोषणाएं घाव पर नमक छिडकने जैसी लगीं। कश्मीर से उठने वाली हर आवाज यही कहती है कि कश्मीर एक राजनीतिक समस्या है। इसके राजनीतिक चरित्र को नामंजूर करना कश्मीर में यथास्थिति बनाए रखने की उद्दंड जिद के सिवा और कुछ नहीं है।

केंद्र की भाजपा सरकार चाहे पाकिस्तानको जिम्मेदार ठहराए या विकास की बात करे, कश्मीर की समस्या के प्रति उसका नजरिया मूलतः वही है, जो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का है। यह नजरिया इसे एक धार्मिक-साम्प्रदायिक समस्या के रूप में देखता है।इनके लेखे समस्या केवल कश्मीर घाटी में है, जहां मुसलमान बहुसंख्यक हैं।चूंकि मुसलमान कट्टर, अतिवादी और अलगाववादी होते हैं, इसलिए वे हिंदू बहुसंख्या वाले देश भारत में रहना कभी पसंद नहीं करेंगे।

धोखा-दर-धोखा

फिर क्यों विभाजन के समय कश्मीर ने भारत के साथ रहने का विकल्प चुना था,चाहे कुछ शर्तों के साथ? यह नजरिया इस सवाल का जवाब भी नहीं दे सकता कि कश्मीर में अलगाववादी आन्दोलन विलय के चार दशक बाद क्यों शुरू हुआ।

कश्मीर विशेषज्ञ बलराज पुरी के अनुसार कश्मीर घाटी में साम्प्रदायिक घटनाओं की शुरुआत फरवरी 1986 में हुई। हजारों वर्षों के इतिहास में इसके पहले कश्मीर में कभी साम्प्रदायिक तनाव नहीं देखा गया। कश्मीरियत शैवों, बौद्धों और सूफियों की उस मिलीजुली संस्कृति की ओर इशारा करती है, जिसमें भिन्न धर्मों के लोग एकमन और एकप्राण हो कर रहते आए हैं।कश्मीरियत की पहचान शिवभक्त कवयित्री लल द्यद और उनके प्रशंसक शेख नूरुद्दीन वली से हैं, जिन्हें कश्मीरी नुंद रिशी के नाम से जानते हैं।

ऐसे कश्मीर में सन छियासी के आसपास अचानक साम्प्रदायिक तनाव बढ़ना क्यों शुरू हुआ, जिसकी परिणति भारी संख्या में कश्मीरी पंडितों के पलायन में हुई? कश्मीर में सन 1977और 1983 में हुए चुनाव

साफ-सुथरे माने जाते हैं।इसके पहले के सारे चुनाव फर्जी थे। इस मान्यता का खंडन कोई नहीं करता।लेकिन यह भी सच है कि 1983 के चुनाव में ही जम्मू–कश्मीर की राजनीति में पहली बार साम्प्रदायिक कार्ड खेला गया। यह 'शुभ कार्य' किसी और के हाथों नहीं, खुद प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के हाथों हुआ। उन्होंने विधान सभा द्वारा पारित पुनर्वास विधेयक का भय दिखा कर जम्मू के हिंदुओं का ध्रुवीकरण किया। पुनर्वास विधेयक पाकिस्तान गए कश्मीरियों को वापस लौटने, अपनी पीछे छूटी संपत्तियों पर दावा करने और दुबारा बस जाने का अधिकार देने के विषय में था। इस चुनाव में जम्मू में कांग्रेस को भरपूर वोट मिले, वैसे ही जैसे 2014 में बीजेपी को मिले।पहली बार जम्मू और घाटी के बीच राजनीतिक सतह पर साम्प्रदायिक विभाजन देखा गया। नेशनल कांफ्रेंस को भी इसका लाभ हुआ। 75 में 46 सीटें जीत कर उसने सरकार बना ली।

लेकिन साल भर के भीतर ही केंद्र की कांग्रेस सरकार ने राज्यपाल जगमोहन की मदद से फारूक अब्दुल्ला की चुनी हुई सरकार गिरा दी।केंद्र की शह पर हुए दलबदल के बाद जी एम शाह की सरकार बनी। जनाधार–विहीन शाह सरकार ने इंदिरा गांधी के दिखाए रास्ते पर चलते हुए जम्मू में हिंदुओं और घाटी में मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं को भुनाने की भरपूर कोशिश की। सन 86 में अनंतनाग में हुई साम्प्रदायिक घटनाओं की जांच करने वाले बलराज पुरी का निष्कर्ष था कि ये घटनाएं स्वतःस्फूर्त नहीं, राजनीतिक षड्यंत्र का परिणाम थीं।प्रवीन दोंथी ने कश्मीरी पत्रकार युसूफ जमील के हवाले से लिखा है कि अनंतनाग की घटनाओं के पीछे तब के वरिष्ठतम कांग्रेसी नेता मुफ्ती मुहम्मद सईद का हाथ हो सकता है, जो शाह सरकार से छुटकारा पा कर खुद मुख्यमंत्री बनने का सपना देख रहे थे। अनंतनाग उनका अपना इलाका था।

चतुर्दिक फैली अराजकता के बहाने हुए कुछ समय बाद ही यह सरकार भी बर्खास्त कर दी गई।आपातकाल के दौरान 'तुर्कमान गेट के कसाई' के रूप में मशहूर हुए जगमोहन अब सर्वाधिकार-सम्पन्न हो गए।

राज्यपाल जगमोहन ने कई ऐसे फैसले लिए,जिनकी वज़ह से घाटी का बिगड़ता साम्प्रदायिक माहौल औरज्यादा बिगड़ गया।उन्होंने राज्य सरकार की सब-ऑर्डीनेट सेवाओं के आरक्षण के नियमों में कुछ ऐसे बदलाव किए, जिनसे इन सेवाओं में मुसलमानों के चयन का प्रतिशत घट कर आधा रह गया। हिंदू त्योहारों के दिन मांस की बिक्री पर प्रतिबंध लगा दिया गया। जगमोहन की अनुशंसा पर भारतीय संविधान की धारा 249 को कश्मीर पर लागू कर दिया गया, जिससे भारतीय संसद को कश्मीर में राज्य सूची के विषयों पर क़ानून बनाने का अधिकार मिल गया। यह अनुशंसा उन्होंने जम्मू-कश्मीर की संविधान सभा के अधिकारों का इस्तेमाल करते हुई की। राज्यपाल या जमू-कश्मीर की सरकार को ऐसा करने का अधिकार है या नहीं, इस बारे में गहरे संशय हैं, क्योंकि संविधान सभा भंग की जा चुकी है।जगमोहन ने धारा 370 को समाप्त करने के अपने इरादे को भी कभी छुपाया नहीं।

जिन कारणों से जगमोहन घाटी में अलोकप्रिय होते गए, उन्हीं कारणों से जम्मू में उनकी लोकप्रियता बढ़ती गई।

अब तक फारूक अब्दुल्ला की समझ में आ गया था कि केंद्र से पंगा लेने का मतलब सत्ता से बेदखल रहना होगा। उन्होंने राजीव गांधी के साथ समझौता कर लिया और कांग्रेस पार्टी के साथ गंठबंधन कर 1987 का चुनाव लड़ने को राजी हो गए।

घटनाओं के इस सिलसिले से साफ ज़ाहिर है कि कश्मीर की जनता ने जिस किसी पर भरोसा किया, उसी ने उसके साथ विश्वासघात किया। जवाहरलाल नेहरू ने, शेख अब्दुल्ला ने, इंदिरा गांधी ने, फारूक अब्दुल्ला ने, राजीव गांधी ने।

जम्हूरियत, कश्मीरियत और इंसानियत

कश्मीरियों के मन में पाकिस्तान से बढ़ कर भारत का आकर्षण तीन चीजों के लिए था। उन्हें गांधी और नेहरू के देश भारत से लोकतंत्र और लोकतांत्रिक व्यवहार की, कश्मीरियत की गरिमा की रक्षा की और मानवीय सम्वेदनशीलता की उम्मीद थी। राजनीतिक इस्लाम की बुनियाद पर खड़े पाकिस्तान से उन्हें इन चीजों की आशा नहीं थी।इन तीन चीजों को जम्हूरियत, कश्मीरियत और इंसानियत के रूप में सूत्रबद्ध करके अटल बिहारी वाजपेयी ने कश्मीरियों का दिल जीत लिया था।आज भी इन्हें नारे की तरह दुहराया तो जाता है, लेकिन इनके निहितार्थों पर बहस नहीं होने दी जाती।

लोकतंत्र और लोकतांत्रिक व्यवहार में फिर तीन चीजें शामिल थीं – आत्मनिर्णय का अधिकार, स्वायत्तता और चुनावी जनतंत्र। इन्ही बातों के लिए जनमत संग्रह और धारा 370 को विलय का आधार बनाया गया था। उस

समय प्रत्येक हिस्सेदार को पूरा भरोसा था कि जनमतसंग्रह में कश्मीर की जनता भारत का पक्ष चुनेगी।जाहिरा तौर पर जनमतसंग्रह की बात यह सोच कर नहीं रखी गई थी कि इसके सहारे कश्मीर आजाद हो जाएगा।उस वक्त कश्मीर की जनता को सूबे की आजादी नहीं चाहिए थी। अगर चाहिए होती, तो वह कभी विलय के पक्षधर शेख अब्दुल्ला के साथ नहीं खडी होती। उस समय वह इतना ही चाहती थी कि आत्म-निर्णय के उसके अधिकार का सम्मान किया जाए।

वह प्यार के लिए बेशक राजी थी, पर चाहती थी कि उसकी राजी पूछी जाए!

लेकिन भारतीय राज्य ने इन तमाम उम्मीदों को नेस्तनाबूद किया।कश्मीरी अवाम के सब से मकबूल नेता शेख अब्दुल्ला को लगभग दस वर्षों तक जेल में रखा गया। उन्हें तभी छोड़ा गया जब उन्होंने नेहरू के साथ यह समझौता कर लिया कि वे कश्मीरी जनता के आत्मनिर्णय का सवाल नहीं उठाएंगे।इस तरह भारत ने कश्मीरियों को निहायत बेअदबी से यह बताया कि न केवल उनकी राजी नहीं पूछी जाएगी, उन्हें राजीनामे की बात करने तक की इजाजत नहीं दी जाएगी।

कश्मीरी अवाम ने भले भारत पर भरोसा किया हो, भारतीय राज्य ने कश्मीरियों पर भरोसा नहीं किया।स्वतंत्र और स्वच्छ चुनाव नहीं होने दिए गए। विपक्ष को पनपने नहीं दिया गया। लोकतांत्रिक वातावरण बनने नहीं दिया गया। 1977 और 1983 के चुनाव जरूर साफ–सुथरे थे,लेकिन तिरासी के चुनावों पर इंदिरा गांधी की साम्प्रदायिक राजनीति की छाया मंडरा रही थी। रही धारा 370 के आधार पर मिली स्वायत्तता, तो वह भी कठपुतली राज्य सरकारों और नामांकित राज्यपालों की मदद से क्रमशः कमजोर की जाती रही।

कश्मीरी अस्मिता के मायने

कश्मीरियत के भी तीन पहलू हैं - कश्मीरी अस्मिता, साझी संस्कृति और धर्म–निरपेक्षता।

धारा 370 का महत्त्व स्वायत्तता से भी ज्यादा कश्मीरियत की रक्षा के लिए है। कश्मीरी लोग अपनी कश्मीरी अस्मिता से प्यार करते हैं। मुगलों से ले कर डोगरा राजाओं तक से उनका संघर्ष कश्मीरी अस्मिता की रक्षा के लिए होता रहा है, धार्मिक-साम्प्रदायिक कारणों से नहीं।

लेकिन भारत में एक प्रभावशाली राजनीतिक वर्ग लागू होने के दिन से ही धारा 370 को समाप्त करने का अभियान चलाता रहा है। इस वर्ग को शायद यह उम्मीद है कि इस धारा के समाप्त होने के बाद बाहरी आबादियों को बसा कर जनसंख्या परिवर्तन के माध्यम से कश्मीर समस्या को हल किया जा सकता है। पाकिस्तान ने अधिकृत कश्मीर में यही करने की कोशिश की है। अधिकृत कश्मीर का जनसांख्यिक और सांस्कृतिक चरित्र कश्मीर घाटी से भिन्न है। कश्मीरियत के लिए जैसा आग्रह घाटी में है, वैसा उसके बाहर नहीं है। कश्मीरियत के दो आयाम हैं - साझी संस्कृति और कश्मीरी अस्मिता। इतिहास दिखाता है कि कश्मीरी अवाम ने कभी किसी को अपनी अस्मिता के साथ छेड़छाड़ की इजाजत नहीं दी है। इतिहास घुल-मिल कर रहने और साझेपन की संस्कृति विकसित करने की उनकी क्षमता भी उद्‍घाटित करता है।

मानवीय सम्वेदनशीलता, मानवतावाद या इंसानियत कश्मीरी संस्कृति की अंतरात्मा है। यह लल द्यद की कविता और नुंद रिशी के सूफी अध्यात्म की विरासत है। कश्मीरी मनुष्य से, जीवन से और प्रकृति से प्यार करने वाले लोग हैं। पिछले कुछ दशकों को छोड़ दें तो कश्मीर में हिंसा के लम्बे दौर का कोई इतिहास नहीं है। लेकिन भारत से जुड़ते ही उन्हें गिरफ्तारी, कर्फ्यू और राज्य दमन के वातावरण का सामना करना पड़ा।

ऐसे हुई आतंकवाद की शुरुआत

1987 आते–आते कश्मीर की जनता हर कोण से खुद को ठगा हुआ महसूस करने लगी थी। उसकी हर एक उम्मीद तोड़ी गई थी, हर भरोसे को नेस्तनाबूद किया गया था।आत्मनिर्णय के अधिकार और लोकतंत्र की बात क्या, उसे भारत की धर्म–निरपेक्षता तक का भरोसा नहीं रह गया। राज्य और केंद्र की सभी स्थापित पार्टियों से निराश उसने लोकतंत्र पर आखिरी दांव लगाया। अनेक असंतुष्ट समूहों के ढीलेढाले मोर्चे 'मुस्लिम यूनाइटेड फ्रंट' को 1987 के चुनावों में कश्मीरी अवाम का भरपूर समर्थन मिला। कहते हैं, इन चुनावों में धांधली इस हद तक हुई कि सत्ताधारी गंठबंधन के खिलाफ लड़ कर जीते हुए उम्मीदवारों को भी हारा हुआ घोषित कर दिया गया।जीत कर भी हराए गए इन्हीं उम्मीदवारों में एक थे मुस्लिम यूनाइटेड फ्रंट के प्रमुख नेता - सैयद यूसुफ शाह, जिन्होंने आगे चल कर सय्यद सलाहुद्दीन के नाम से हिज्बुल मुजाहिदीन की कमान सम्हाली। शाह के चुनाव प्रबंधक थे यासीन मलिक, जिन्होंने जम्मू कश्मीर लिबरेशन फ्रंट का गठन

किया।लोकतंत्र से पूरी तरह नाउम्मीद हो कर बहुत-से असंतुष्ट युवा आतंकवाद के जाल में फंस गए।

1987 के विफल चुनावों ने कश्मीर में आतंकवाद का अध्याय शुरू कर दिया।

नब्बे का दशक आतंकवाद और उसके सैन्य दमन का दशक है। 1991 में हुए कुनान पोश्पोरा के कथित मास रेप के बाद सैन्य अतिरेकों के हैरतअंगेज आरोप लगते रहे हैं। कश्मीर में इस दशक में मारे गए लोगों और गायब हो गए लोगों की संख्या लाखों में बताई जाती है।

जिस किसी को कश्मीर के इस इतिहास का तनिक भी अंदाजा होगा, उसे यह समझने में देर नहीं लगेगी कि कश्मीर का संकट न तो इस्लाम के कारण है, न ही पाकिस्तान के कारण। उसका एकमात्र कारण है कश्मीर में भारतीय लोकतंत्र की सम्पूर्ण विफलता।राजनेताओं द्वारा पाकिस्तान को जिम्मेवार ठहराने के दो उद्देश्य हो सकते हैं। एक, देश की जनता को कश्मीर के विषय में अंधेरे में रखना और पाकिस्तान विरोधी उन्माद भड़का कर सस्ता जनसमर्थन हासिल करना। दो, कश्मीर की जनता को यह संदेश देना कि कश्मीर के दर्द को समझने में भारतीय राज्य की कोई रुचि नहीं है। वह फर्जी लोकतंत्र के सहारे केवल फौजी ताकत के बूते कश्मीर पर कब्जा बनाए रखेगा।

रास्ता इधर से है

नब्बे-बाद के आतंकवादी आन्दोलन के पराभव के बाद कश्मीर बेचैनी से 'सामान्य स्थिति' की तलाश में था। इस तलाश को 2013 में अफजल गुरु की फांसी से गहरा आघात पहुंचा। कश्मीर के लोगों को अफजल की मौत से भी ज्यादा आघात फांसी के तरीके से पहुंचा। अफजल के परिवार को न तो पूर्वसूचना दी गई, न मिट्टी सौंपी गई। कश्मीर के लोग अफजल को एक प्रतिबद्ध आतंकवादी के रूप में नहीं देखते। अफजल के मुकदमे की प्रक्रिया पर उन्हें पूरा भरोसा नहीं है, क्योंकि उसे कोई सक्षम वकील नहीं मिला, उसके साथ के आरोपित निर्दोष पाए गए और उसकी सजा 'परिस्थितिगत साक्ष्यों' पर आधारित थी। अफजल के मुद्दे ने कश्मीरी जनमानस को गहराई से आंदोलित किया, लेकिन उसके प्रति भारतीय राज्य और समाज का रुख ठंढा पड़ा रहा। दूसरे राज्यों में अनेक दोषसिद्ध आतंकियों को छोड़ा गया है, उनकी सजाएं कम की गई हैं, उनसे वार्ताएं हुई हैं, उन्हें सम्मानित तक किया गया है। लेकिन अफजल की मिट्टी सौंपने की नितांत मानवीय मांग की भी अनसुनी की गई। इस अनसुनेपन की इंतहा यह है कि इस साल जब जेएनयू में कुछ छात्रों ने अफजल की फांसी के मुद्दे पर चर्चा आयोजित की तो राष्ट्रीय ज्यूज चैनलों ने इसे देशद्रोह का मामला बना कर महीनों तक हंगामा बरपा किया।

इस रवैए से भी कश्मीर घाटी को संदेश यह मिला कि भारतीय राज्य और समाज उनकी भावनाओं के प्रति किंचित भी सम्वेदनशीलता बरतने को तैयार नहीं है। गहरी चोट खाई इन्हीं भावनाओं को सहला कर 2014 के चुनावों में पीडीपी ने घाटी में जबर्दस्त सफलता पाई। इस जनाधार को बचाने के लिए ही सरकार में आने के बाद उसने भूतपूर्व आतंकियों की रिहाई की प्रक्रिया शुरू कीथी, जिससे कश्मीर में सरकार की सद्भावना के प्रति लोगों में भरोसा पैदा होना शुरू हुआ था। लेकिन सरकार की साझीदार बीजेपी ने इसे आतंकवाद के प्रति समर्पण के रूप में देखा। पीडीपी पर कदम वापस खींचने का भरपूर दबाव बनाया गया। भरोसे की दुबली-सी किरण भी छिन्न –भिन्न हो गई। इसके बाद भी कोई कसर रह गई हो तो उसे बुरहान वानी के आकस्मिक अंत ने पूरा कर दिया। बुरहान सक्रिय आतंकी होने से ज्यादा एक पोस्टर बॉय था, जो कश्मीर की दमित भावनाओं की वाणी बन गया था। उसकी सक्रियता सब से ज्यादा सोशल मीडिया पर थी।उस पर पुलिस की निगाह थी। उसे गिरफ्तार करने में पुलिस की असफलता और मुठभेड़ में उसकी मृत्यु ने कश्मीर के बरसों से पकते गहरे घावों को भीतर तक उद्वेलित कर दिया।

आज की परिस्थिति में सब से अधिक आसान यह मान लेना है कि सत्तर वर्षों से विश्वासघात, दमन और अपमान झेल रही कश्मीर की जनता अब किसी भी कीमत पर भारत के साथ नहीं रहना चाहेगी। इसलिए भारत के पास कश्मीर को आजाद कर देने (जिसके लिए देश की जनता अभी तैयार नहीं है) या फिर, जब तक रख सकें, सैन्य नियंत्रण में रखने के सिवा और कोई उपाय नहीं है। राजनेताओं के लिए यह सुविधाजनक भी है, क्योंकि कश्मीर में पुट्ठे चमकाते रहने से बाकी देश का ध्यान जरूरी मुद्दों से हटाने और भावनात्मक उबाल पैदा करना सब से आसान हो जाता है।

लेकिन ऊपर हम देख चुके हैं कि कश्मीर में यथास्थिति का बने रहना खुद भारतीय लोकतंत्र के लिए संकट पैदा करता है।देश के एक हिस्से में लोकतंत्र का दमन कर बाकी हिस्सों में भी उसे लम्बे समय तक बचा कर

नहीं रखा जा सकता। इसके अलावा, कश्मीर का संकट भारत के लिए एक नैतिक संकट भी है। यह देश के नैतिक आत्मविश्वास को खोखला करता लजाता है।

यह भी स्पष्ट है कि यथास्थिति हमेशा नहीं बनी रहेगी। कोई यथास्थिति स्थायी नहीं होती। लेकिन यह जब तक रहेगी, कश्मीर का भारत के साथ रहना उतना ही कठिन होता जाएगा।

अगर हम कश्मीर को बचाना चाहते हैं तो परिस्थिति की गंभीरता पर तकाल ध्यान देना होगा और कुछ साहसिक कदम उठाने होंगे।

आजादी इंसान की बुनियादी जरूरत है। आज़ादी गंवा कर मनुष्यता की गरिमा नहीं बचाई जा सकती। मनुष्यता का सारा इतिहास आजादी के लिए मनुष्य के महान संघर्ष की कहानी है। लेकिन आजादी की सब से ठोस और व्यावहारिक शक्ल जो इंसान ईजाद कर पाया है, वह है - लोकतंत्र।

लोकतंत्र को त्याग कर आजादी के जितने प्रयोग आज तक किए गए हैं, वे सब औंधे मुंह गिरे हैं। भारतीय संघ अगर इतनी सारी राष्ट्रीयताओं (नेशनैलिटीज) को अपने साथ जोड़ कर रख पाया है तो केवल लोकतंत्र के बूते। अलगाववादी आन्दोलन उन्हीं इलाकों में हैं, जहां लोकतंत्र के साथ समझौते किए गए।

सत्तर सालों में भारतीय लोकतंत्र पर कश्मीरी अवाम का भरोसा टूट चुका है। क्या इस भरोसे को फिर से बहाल किया जा सकता है?

भरोसा बहाल करने की पहली शर्त है भरोसा करना।

क्या भारतीय राज्य और भारत के लोग कश्मीरी अवाम को यह भरोसा दे सकते हैं कि वे उस पर भरोसा करते हैं?

यह तभी सम्भव है जब हम साबित करें कि कश्मीर की अस्मिता, स्वायत्तता और आजादी का सम्मान करते हैं।इसके लिए हमें कश्मीर में वे आजादियां तत्काल बहाल करनी होंगी, जो शेष भारत की जनता को हासिल हैं। हाल ही में शहीद चंद्रशेखर आजाद के गाँव भाबरा से देश को सम्बोधित करते हुए प्रधानमंत्री ने दावा किया कि कश्मीर को ये आजादियां पहले से हासिल हैं।

क्या भारत साबित कर सकता है कि यह दावा महज एक जुमला नहीं है?

क्या हम कश्मीरियों की अभिव्यक्ति की आजादी बहाल कर सकते हैं? क्या हम कह सकते हैं कि चाहे वे आजादी की मांग करें या पाकिस्तान जिंदाबाद के नारे लगाएं, हम उनकी अभिव्यक्ति पर रोक नहीं लगाएंगे - चाहे हम उनसे लाख असहमत हों?

अगर हम कश्मीरियों को यह आजादी नहीं दे सकते, तो शेष भारत से भी इसे छीनना पड़ेगा। आज क्या ठीक यही नहीं हो रहा है?

दुनिया का कोई भी लोकतांत्रिक देश अलगाववादी नारे लगाने, भाषण देने या किताबें लिखने पर रोक नहीं लगाता। अभिव्यक्ति की आजादी पर रोक से अलगाववाद को बढ़ावा मिलता है, आजादी से नहीं।

अभिव्यक्ति की आजादी के बिना कोई बातचीत शुरू नहीं हो सकती। आजादी के बिना एकालाप हो सकता है, संवाद नहीं।

कश्मीर के साथ संवाद की अब तक की सारी कोशिशें इसलिए विफल हो गईं कि दोनों पक्ष प्रस्थान विंदु पर ही सहमत नहीं हैं। भारत का प्रस्थान विंदु है - कश्मीर भारत का अटूट अंग है।कश्मीर के सभी हिस्सेदार इससे सहमत नहीं हैं।

कोई बातचीत तभी हो सकती है, जब भारतीय पक्ष अपनी बात कहते हुए दूसरे पक्ष की बात भी सुनने को तैयार हो। अगर हम कहें कि बात करना तो दूर, हम आप की बात सुनने को भी तैयार नहीं हैं, तो क्या बातचीत होगी?

क्या हम कश्मीरियों को भरोसा दे सकते हैं कि हम उनकी बात सुनने, समझने और उस पर बहस करने को तैयार हैं? क्या हम कह सकते हैं कि हम कश्मीर के भारत का अटूट अंग होने के सिद्धांत पर दृढ़ हैं, लेकिन इसे तर्क और प्रमाण से सिद्ध करेंगे, फौजी ताकत से नहीं? और, बदले में उनसे भी हम यही उम्मीद करते हैं कि वे तर्क और प्रमाण से बात करें, पत्थरों से नहीं।

लोकतंत्र के दो बुनियादी आशय हैं - अभिव्यक्ति की आजादी और शर्त–हीन मुक्त बातचीत। जैसे ही हम इन दो बातों को स्वीकार कर लेंगे, लोकतंत्र की स्पिरिट बहाल हो जाएगी।

संवाद शुरू हो जाएगा।यथास्थिति टूटेगी। समाधान के नए रचनात्मक रास्ते खुलने लगेंगे।

इसके लिए भारत की सम्प्रभुता के साथ समझौता करने की जरूरत नहीं है। उलटे लोकतांत्रिक पुनर्रचना की यह प्रक्रिया भारत की सम्प्रभुता और लोकतंत्र को अधिक मजबूत बनाएगी।

लोकतंत्र, समाजवाद और कल्याणकारी राज्य या स्वराज

महेश विक्रम

(गतांक से आगे)

भाग चार

भारतीय संदर्भ

सैद्धान्तिक रूप से कहा जाय तो भारत में लोकतंत्र का अर्थ विधायिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका की शक्तियों का विभाजन, सभी को मौलिक एवं न्यायिक अधिकार, सभी वयस्कों को मताधिकार, भाषण और वाणी की स्वतंत्रता, अल्पसंख्यकों के अधिकार और धर्मनिरपेक्षता, सह-अस्तित्व, धार्मिक सहिष्णुता, और स्थानीय निकायों की उपस्थिति है। लेकिन इसके व्यवहार में अनेक विसंगतियाँ देखी जा सकती हैं और पूँजीवाद और सामन्तीय इतिहास से जुड़ी सभी प्रकार की गन्दगियाँ हमारी न्यायिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवहारों में घुली मिली हैं। जबकि समाजवाद के कुछ लक्ष्यों को भारतीय संविधान के नीति निर्देशक सिद्धान्तों में ही रखा गया है और उनमें से भी राष्ट्रीय दृष्टि से सर्वोपरि महत्व के कई विषय जैसे शिक्षा और स्वास्थ्य हमारी संघीय प्रणाली में राज्य सूची का विषय बना दिए गए हैं।4 (याद रखने की बात है कि समाजवादियों ने संविधान निर्मात्री सभा का बहिष्कार कर दिया था। जयप्रकाश नारायण ने तब कहा था कि यह संविधान सभा न तो स्वतंत्र और लोकतांत्रिक संविधान दे सकेगी और न ही देश की एकता बनाए रख पाएगी। जयप्रकाश अंग्रेजों से एक और अन्तिम लड़ाई लड़ कर अपने राष्ट्र का संविधान अंग्रेजों द्वारा अभिप्रेरित संविधान सभा के बजाय अपनी इच्छानुसार निर्मित संविधान सभा के माध्यम से बनाने के पक्ष में थे। समाजवादियों ने प्रारम्भ में संविधान सभा का बहिष्कार किया, बाद में इसमें शामिल होना चाहा परन्तु इसमें असफल होने पर उन्होंने अपने विचारों के अनुसार संविधान को अधिकाधिक लोकतांत्रिक और समाजवाद के अनुरूप बनाने के लिए संविधान सभा को प्रभावित करने का प्रयास जारी रखा। यहां तक कि उन्होंने स्वयं अपनी ओर से अपने विचारानुरूप संविधान की एक रूपरेखा तैयार कर संविधान सभा के विचारार्थ प्रेषित की। इस पकार संविधान सभा से बाहर रहते हुए भी समाजवादियों ने भारत के संविधान के रचना में महत्वपूर्ण योगदान दिया।) अतः उनकी प्राप्ति की दिशा में आधी अधूरी ढंग से लागू की गयीं कतिपय अल्पविचारित कल्याणकारी योजनाओं, और सार्वजनिक वितरण के क्षेत्र में कुछ अपर्याप्त एवं अविचारित कार्यक्रम, बहुत पहले हुए जमींदारी उन्मूलन और प्रिवी पर्स की समाप्ति, रेलवे को सार्वजनिक क्षेत्र में बनाए रखने तथा सार्वजनिक क्षेत्र में कतिपय महत्वपूर्ण उद्यमों या योजनाओं के प्रारम्भ और कुछ उद्योगों जैसे कोयला और बैंकों के राष्ट्रीयकरण और बहुचर्चित आरक्षण की असंगत नीति के अतिरिक्त बहुत कुछ ठोस नहीं हो सका है, और वह भी सामन्तवादी विरासत और पूँजीवादी लालचों की भूल-भुलइया में अधिकांशतः भ्रष्टाचार और जातीय पूर्वाग्रहों की बलि चढ़ गया है। पिछले दशकों से हमें लगातार सभी क्षेत्रों में निजीकरण, अराष्ट्रीयकरण, पूँजीविनिवेश तथा बड़ी व्यावसायिक शक्तियों को राष्ट्रीय सम्पदा में साझेदार बनाए जाने की मुहिम चलती और समाजवाद की दिशा में जो थोड़ा बहुत संभव हुआ था वह भी समाप्त होता दिख रहा है।

भारत के राष्ट्रीय सन्दर्भ में समाजवाद का अर्थ एक लोकतंत्र के अन्तर्गत् निजी सम्पत्ति के सम्पूर्ण उन्मूलन से इतर इस देश की अच्छी बुरी सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक विरासत और यथार्थ और राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्याप्त चुनौतियों के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान में इसके संकोचों या सीमाओं और भविष्य के लक्ष्य की दृष्टि से क्या हो सकता है इस पर भारतीय समाजवादियों में एक स्पष्ट समझ और सोच डॉ. राम मनोहर लोहिया की रही। उनके तथा अब तक के अन्य समाजवादियों के विचारों के आधार पर भारत में समाजवाद के राज्यस्तरीय उपक्रम क्या होने थे या होने चाहिए उसकी संक्षिप्त रूपरेखा निम्नवत् प्रस्तावित की जा सकती है-

सामाजिक क्षेत्र

सामाजिक क्षेत्र में एक राष्ट्रीय नीति के रूप में समाजवाद जाति व्यवस्था के उन्मूलन और एकरूप एवं क्षैतिज विकास की पर्याप्त स्थितियाँ बनने तक ऐतिहासिक रूप से सामाजिक वंचना का शिकार रहे समुदायों यथा दलित, अन्य पिछड़े समूहों, अल्पसंख्यकों, जनजातियों आदि के विशेष अवसर के सिद्धान्त या आरक्षण का पक्षधर

रहेगा। लैंगिक समानता को विशेष महत्व देते हुए स्त्रियों तथा अन्य के प्रति सम्मान की राष्ट्रीय नीति रखनी होगी।

राष्ट्र की दृष्टि से शिक्षा पूर्णतया राष्ट्रीय दायित्व का विषय होना चाहिए था। जिसमें अनिवार्य, मुफ्त और समान शैक्षिक सुविधाओं के साथ प्राथमिक से उच्च शिक्षा तक सम्मिलित है। शिक्षा में राष्ट्र भाषा और क्षेत्रीय भाषाओं के प्रयोग को ध्यान में रखना भी ज़रूरी होगा।

नागरिकों का स्वास्थ्य भी राष्ट्रीय महत्व का विषय है और स्थानीय स्तर से लेकर बड़े स्तर तक मुफ्त और उचित स्वास्थ्य सुविधा उपलब्ध कराना उसका दायित्व होना चाहिए। समाज कल्याण की दिशा में अन्य ज़रूरी कदम समाज के कमजोर तबकों के लिए सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से खाद्यादि उपलब्ध करना तथा उनके लिए विशेष आवास योजनाएं चलाना भी है।

शिक्षा तथा स्वास्थ्य के क्षेत्र में किसी भी प्रकार के निजी या पीपीपी उपक्रम को स्थान देना बिलकुल ही उचित नहीं होगा। और यदि इन उपक्रमों में स्थानीय समुदायों को सहभागी बनाया जाना हो तो उसे सहकारी संगठनों (कोऑपरेटिव्स) के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है निजी व्यवसायिओं या बाह्य साहसी (एडवेंचरर), जिन्हें इस संदर्भ में दुस्साहसी कहना उचित होता, के रूप में नहीं। यहां यह भी सुझाया जाता है कि शिक्षा और स्वास्थ्य के उपक्रम स्थानीय स्वशासन द्वारा भी विकसित और संचालित हो सकते हैं जिसके लिए राज्य राष्ट्रीय मानकों और लक्ष्यों के अनुसार आवश्यक अतिरिक्त वित्तीय सहयोग प्रदान कर सकता है।

जबकि सार्वजनिक वितरण प्रणाली तथा आवासीय एवं अन्य नागरिक सुविधाएं स्थानीय स्तर पर ही संचालित होनी अपेक्षित हैं जिन्हें राज्य आवश्यक सहयोग प्रदान कर सकता है।

स्वरोजगार के क्षेत्रः कृषि और किसान, कारीगर, मजदूर और आदिवासी

राष्ट्रीय नीति के रूप में कृषि-उत्पादन का समुचित (बाजार की अन्य वस्तुओं के ही समकक्ष) मूल्य उपलब्ध कराया जाना, कृषि क्षेत्र की सुरक्षा और उन्नयन, सिंचाई के उचित साधनों या विकल्पों का निर्माण, जैविक खेती, बागानी तथा पशुपालन को संरक्षण और उसका विकास बड़ी आवश्यकता रही है। साथ ही स्थानीय स्तर पर कृषि आधारित उद्योगों तथा खाद्य-प्रसंस्करण की इकाइयों के निर्माण को प्रेरित और प्रोत्साहित करना भी बहुत ज़रूरी है।

इसके अतिरिक्त कारीगरों और हस्त-कलाकारों के ऐसे पारम्परिक कौशलों और हस्त-कलाओं के संरक्षण और प्रोत्साहन और उनके स्थानीय बाजार पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है जो सहज और उपयोगी होने के साथ ही बड़ी संख्या में आम जनता के स्वरोजगार का माध्यम और साधन हैं। दूसरी ओर दूसरों के शौचालय साफ करने जैसे अमानवीय कामों में लगे हुए लोगों के वैकल्पिक रोजगार की व्यवस्था करते हुए ऐसे कार्यों के सम्पादन में उपयुक्त आधुनिक उपकरणों और तकनीकि का प्रयोग किया जाना भी ज़रूरी है।

भारत में किसानों और कारीगरों के सहकारी संगठनों को प्रेरित, संरक्षित और प्रोत्साहित किया जाना बहुत आवश्यक रहा है जो अधिकांशतः सामन्तवादी प्रवृत्तियों और पूँजीवादी लोभों का ग्रास बनते रहे हैं।

पुनः योजनाओं और साधनों या उपकरणों का स्थानीय स्तर पर चयन एवं प्रयोग तथा आवश्यकतानुसार राज्य या केन्द्रीय स्तर से सहयोगी प्रणालियों का निर्माण एक अन्य आवश्यकता है।

संगठित और असंगठित दोनों ही क्षेत्रों में मजदूरों के लिए न्यूनतम् पारिश्रमिक और प्रतिदान सुनिश्चित करना भी राज्य का ही दायित्व बनता है। आदिवासियों की सुरक्षा और उनके निवास और जीवनयापन के अपने स्थानीय स्रोतों यथा पानी, जंगल और पहाड़ पर उनके स्वाभाविक अधिकारों को बनाए रखना भी राज्य की ज़िम्मेदारी बनती है।

उपर्युक्त में से अधिकांश कार्य राज्य के आवश्यक परामर्श और सहकार और कतिपय अनिवार्य हस्तक्षेप के साथ स्थानीय स्तर पर ही सुनिश्चित किए जा सकते हैं।

उद्योग, व्यापार और व्यवसाय

समाजवादी सिद्धान्त के अनुसार अनिवार्य वृहद् संसाधन और राष्ट्रीय स्तर की सार्वजनिक सुविधाएं पूरी तरह राज्य के नियंत्रण में होने चाहिएं। इसमें संरक्षित सार्वजनिक क्षेत्र और उसके उद्यम और उद्योग(पब्लिक सेक्टर यूनिट्स-पीएसयू) सम्मिलित हैं। राष्ट्रीय महत्व के उपक्रमों या पीएसयू का किसी भी रूप में निजी क्षेत्र के उपक्रमों या उद्योगों के साथ समझौता स्वीकार्य नहीं होना चाहिए। उनके बेहतर रखरखाव एवं प्रबन्धन के लिए उनमें लोगों को (उनके सहकारी संगठनों के रूप में ही, निजी व्यवसायिओं या कम्पनियों के रूप में नहीं) सही मायने में साझेदार बनाना आवश्यक होगा। मिश्रित अर्थ व्यवस्था की स्थिति में भी निजी क्षेत्र में केवल उन्हीं उद्योगों को अनुमति दी जा सकती है जिनसे उपयोगी मानव कौशल एवं

हस्तकला और किसानों और आदिवासियों के विस्थापन तथा पर्यावरणीय प्रदूषण का कोई खतरा नहीं हो। सार्वजनिक या निजी किसी भी क्षेत्र के उद्योगों को पर्यावरण से छेड़छाड़ की अनुमति नहीं हो सकती। उद्योगों को कृषि, जल संसाधन, पहाड़ों और जंगलों के साथ सामान्य प्राकृतिक पर्यावरण को न्यूनतम् प्रभावित करने वाला तथा स्थानीय या क्षेत्रीय आबादी की सामान्य आवश्यकताओं और कौशलों के हित में होना होगा। जिसके लिए पारमाणविक संयंत्रों और बिना विशेष आवश्यकता के ऐसी भारी मशीनों एवं पूर्ण यान्त्रिकीकरण से बचना होगा और ऐसे उद्योगों को ही प्रोत्साहित करना होगा जिनमें मानव कौशल और श्रम का सम्मानजनक रूप से अधिक से अधिक सदुपयोग और खपत हो सकती हो।

स्थानीय स्वशासन को अपने स्थानीय हितों को ध्यान में रखते हुए अपने क्षेत्र में उद्योगों तथा सार्वजनिक सुविधाओं के निर्माण या स्थापना के बारे में निर्णय लेने का अधिकार होना चाहिए जिसे राज्य द्वारा परामर्श और सहयोग भी प्रदान किया जा सकता है।

एक समाजवादी राज्य में व्यापार और व्यवसायों का नियमन अपरिहार्य है। इसमें एक ओर जमाखोरी और अनपेक्षित वस्तुओं के व्यापार या व्यवसाय और उनके आवागमन पर नियंत्रण ज़रूरी है तो दूसरी ओर उन्हें उपभोक्ताओं को नुकसान न पहुँचाने और अनावश्यक मुनाफा न कमाने देते हुए भी समुचित लाभ के लिए साफ-सुथरा व्यापार और व्यवसाय तथा स्थानीय बाजारों से परस्पर लाभप्रद व्यवहार हेतु सुरक्षा तथा प्रोत्साहन दोनों आवश्यक है।

समाजवादी भारत को अपने देश और देशवासियों की सामान्य प्राथमिकताओं का ध्यान रखते हुए व्यापारिक स्वतंत्रता एवं वस्तुओं के आयात को नियंत्रित या नियमित करना ही होगा और अन्तर्राष्ट्रीय दबावों (विश्व व्यापार संगठन एवं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसे पूँजीवाद के अभिकरणों द्वारा प्रेरित वैश्वीकरण और उदारीकरण) का जवाब देने के लिए अत्यावश्यक उत्पादन और निर्माण में अपनी जनता के कौशल और सामर्थ्य पर भरोसा करना होगा।

यहां हम एक लोकतांत्रिक समाजवादी व्यवस्था में सरकारी स्तर पर अपनाए जाने योग्य एक व्यावहारिक औद्योगिक एवं व्यापारिक नीति के सम्बन्ध में बर्टेण्ड रसेल के निम्नलिखित अवलोकनों एवं विचारों का उल्लेख करना उचित समझते हैं-

मुनाफे के लिए प्रेरित होने के बजाय सरकारी योजनागत् उद्योगों का विकास होगा। यद्यपि सरकार का अनुमान भी दोषयुक्त हो सकता है परन्तु किसी निजी व्यक्ति से यह कम ही होगा क्योंकि यह सम्पूर्ण ज्ञान पर आधारित होगा। जब रबर के दाम ऊँचे थे हरेक व्यक्ति रबर के पौधे लगाने मे जुट गया जिसका परिणाम हुआ कि कुछ वर्षों बाद दाम बेतहाशा नीचे गिर गए और फिर रबर के उत्पादन को नियंत्रित करना आवश्यक हो गया। अतः व्यक्तिगत् स्तर पर एक के ऊपर दूसरे व्यक्ति के इस प्रकार के गलत अनुमानों को एक केन्द्रीय सत्ता प्रतिष्ठान द्वारा अपने आंकड़ों के बल पर रोका जा सकता है। फिर भी यह माना जा सकता है कि अप्रत्याशित् कारणों जैसे नए अविष्कारों के चलते बहुत सुविचारित अनुमान भी गलत हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण समुदाय नई प्रक्रियाओं को क्रमशः अपनाते हुए उससे लाभान्वित हो सकता है। और जहां तक इस स्थिति में कुछ लोगों के बेरोजगार होने का प्रश्न है तो समाजवादी व्यवस्था में उनके लिए तब वह उपाय करने संभव होंगे जो इसके पहले बेरोजगारी के भय एवं नियोक्ताओं और नियुक्तों के परस्पर अविश्वास के चलते करने असंभव होते। जहां एक उद्योग समाप्त हो रहा हो और दूसरा फैल रहा हो वहां से नई पीढ़ी को निकाल कर नए फैलते हुए उद्योग के लिए तैयार किया जा सकता है। बेरोजगारी को काफ़ी हद तक काम के घण्टों में कमी करके रोका जा सकता है। जहां किसी को कोई काम न हो वहां भी उसे इसलिए पूर्ण पारिश्रमिक मिलते रहना चाहिए क्योंकि उसने काम की इच्छा जाहिर की है। और जहां काम होने पर उससे काम लेने का सवाल है तो वह उसके लिए बाध्य होना चाहिए और यह बाध्यता आर्थिक प्रतिबन्धों से सम्बन्धित न होकर आपराधिक श्रेणी में रखी जानी चाहिए।

विकास की नई समाजवादी अवधारणा

हमारी आज की समझ के अनुसार भारत में एक सच्चे लोकतंत्र और समाजवादी राज्य के लिए विकास के वर्तमान स्वरूप से अपनी भिन्न अवधारणा है। जिसके अनुसार राज्य के सम्पूर्ण प्रयास सीधे उर्ध्वगत विकास के बजाय समाज के समग्र और क्षैतिज विकास में लगे होने चाहिएं जिसमें प्रकृति और पर्यावरण का संरक्षण सम्मिलित है। यह अवधारणा विकास की दिशा में तात्कालिक रूप से गतिरोध और लोगों के लिए कुछ प्रारम्भिक कठिनाइयाँ पैदा करने के जोखिम उठाने से भी जुड़ी है। क्योंकि क्षैतिज विकास के साथ तीव्र गति लेने का समय तभी आ सकता है जब समाज में सभी अपने पैरों पर मजबूती से खड़े हों और अपने समुदाय की

सहायता करने में सक्षम् में हों। जब उन्हें किसी विशेष प्रकार के कल्याणकारी कार्यक्रमों की आवश्यकता नहीं रह गई हो। तथापि अनिवार्य ऊर्जा उद्यम, सिंचाई सुविधाएँ, सड़क और यातायात तथा पर्यटकों एवं साहसिक भ्रमणकर्त्ताओं के लिए महत्वपूर्ण ऐतिहासिक धरोहरों का रख रखाव और यात्रा सुविधाओं को वैकल्पिक उपक्रमों द्वारा बनाए रखा जा सकता है।

समाजवाद निश्चित रूप से बड़े सामाजिक मूल्य देकर पैदा किए गए शहरी ऐश्वर्य जैसे बड़ा माल संस्कृति, बड़े व्यापार और बड़े व्यवसायों के साथ ही अनावश्यक तमाशों और शहरों की चकाचैंध का विरोधी है। अतः समाजवाद के लिए कुछ साधन सम्पन्न नागरिकों द्वारा तब तक थोड़े आत्मसंयम या कुछ सुखों के परित्याग की अपेक्षा अवश्य ही होगी जब तक सबके लिए विकास और सम्मानजनक जीवन जीने की स्थितियाँ नहीं बन जातीं। इस उद्येश्य से एक तो आयकरों में वृद्धि के द्वारा अत्यधिक बड़े मुनाफ़ों को संयमित करना और कुछ क्षेत्रों में अस्वीकार्य स्तर तक ऊँची तनख्वाहों या पारिश्रमिक को सम्यक बनाना ज़रूरी है तो दूसरे, उत्पादन की लागत को कम करके वस्तुओं के मूल्य नीचे लाना (लोहिया की दाम बांधो नीति) तथा वितरण प्रणाली में किसी बड़े निजी व्यवसायी या कॉर्पोरेट के बजाय जनता या उसके सहकारी संगठन को सम्मिलित करना आवश्यक है। तथापि निजी सुख सुविधाओं की कमी कुछ सीमा तक ठीक ढंग से संचालित सार्वजनिक सुविधाओं से पूरी होनी भी संभव है।

(चूँकि सार्वजनिक सुविधाएँ या तो उपलब्ध नहीं होतीं या इतनी कम और अव्यवस्थित होती हैं अतः कुछ साधन सम्पन्न लोगों के साथ ही अन्य जमातें भी येन केन प्रकारेण अपने अपने निजी सुविधा क्षेत्र का निर्माण करने में लग जाती हैं जिससे असमानता और भ्रष्टाचार दोनों ही बढ़ता है। यह एक ऐसे दुष्चक्र को पैदा करता है जिससे प्रत्येक क्षेत्र में आशंकाओं और अनिश्चतताओं का निर्माण हो जाता है। समझने के लिए यदि समान शिक्षा और स्वास्थ्य तथा सामाजिक सुरक्षा के अन्य अनिवार्य प्राविधान सभी को उपलब्ध हों तो किसी को अपने लिए विशेष या विशिष्ट स्थान और स्त्रोतों को जुटाने की कितनी आवश्कता होगी!)

पुनः समाजवाद की भारतीय अवधारणा में राज्य और समाज के बीच का सूत्र मात्र कोई प्रशासनिक तंत्र या कोई केन्द्रीकृत व्यवस्था न होकर स्थानीय स्तर पर जनता द्वारा स्वशासन की स्थानीय संस्थाएं होंगी जो राष्ट्रीय मूल्यों के अनुरूप अपने हित में अपने विकास की योजनाएँ बनाने और क्रियान्वित करने की अधिकारी होंगी।

सांस्कृतिक एवं धार्मिक नीतिः

सांस्कृतिक एवं धार्मिक नीति की दृष्टि से समाजवाद का दृष्टिकोण क्या होगा यह बर्टेण्ड रसेल के इस कथन से स्पष्ट हो सकता है कि ‘समाजवाद का धर्म से कुछ लेना देना नहीं है। यह एर्क आिर्थक सिद्धान्त है और एक समाजवादी बिना किसी तार्किक असंगतता के ईसाई, मुसलमान, बौद्ध या ब्रह्मा का उपासक कुछ भी हो सकता है।’ (With religion Socialism has nothing to do. It is an economic doctrine, and a Socialist might be a Christian or a Mohammedan ,a Buddhist or a worshipper of Brahma, without any logical inconsistency.)

भारत घार्मिक और सांस्कृतिक विभिन्नताओं का देश है जिसमें बहुसंख्यक हिन्दू समुदाय के साथ ही अच्छी संख्या में मुसलमान तथा अन्य सभी प्रधान धार्मिक पद्धतियों से जुड़े समुदाय भी अल्पसंख्यकों के रूप में मौजूद हैं। सांवैधानिक रूप से यह एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है और इसमें सभी धार्मिक एवं सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों के अधिकार सुरक्षित रखे गए हैं। निसंदेह समाजवादी सरकार लोगों के सांस्कृतिक एवं धार्मिक मामलों में तब तक कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहेगी जब तक कि वह एक-दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं कर रहे होते या प्रत्यक्षतः अमानवीय नहीं होते। भारत जैसे देश में एक समाजवादी सरकार को इस क्षेत्र में अत्यन्त संवेदनशील होना होगा। और एक समतावादी समाज की ओर उन्मुख समरसता और परस्पर सहयोग का वातावरण निर्मित करने के लिए एक सीमा तक लोगों की विशुद्ध धर्माधारित नैतिकता एवं आध्यात्मिक भावनाओं तथा लोक विश्वासों और परम्पराओं का सम्मान करना होगा। राम मनोहर लोहिया ने स्वयं नास्तिक होते हुए भी भारत की प्राचीन संस्कृति और लोक परम्पराओं में आध्यात्मिकता, प्रेम और आत्मसंयम् के पर्याप्त ऐसे तत्व देखे जिन्हें एक नए राष्ट्र के निर्माण के लिए संरक्षित रखना और प्रोत्साहित करना अपेक्षित होगा। राम, कृष्ण, शिव और बुद्ध को क्रमशः मर्यादा, कौशल, असीमता और क्रांति के प्रतीकों के रूप में प्रस्तुत करने और चित्रकूट में रामायण मेला के आयोजन की योजना के पीछे लोहिया की यही दृष्टि रही।

समाजवाद का अन्तर्राष्ट्रीय आयाम

‘क्या समाजवाद राष्ट्रों के बीच शान्ति एवं सद्भाव को प्रेरित करने में सहायक होगा’, यह बौद्धिकों के लिए पिछली पूरी शताब्दी में बहस का विषय बना रहा। यहां इस विषय

पर हम एक बार फिर बर्टेण्ड रसेल के निम्नलिखित विचारों को रेखांकित कर सकते हैं,

"युद्ध एक प्राचीन संस्था है जो मूलतः पूँजीवाद से नहीं पैदा हुई है यद्यपि इसके कारण हमेशा आर्थिक रहे हैं। भूतकाल में इसके दो बड़े स्रोत रहे हैं, राजाओं की व्यक्तिगत् महत्वाकाँक्षा तथा आक्रामक कबीलों या राष्ट्रों के साहसिक अभियान।.........युद्ध अपनी विजय के प्रति आश्वस्त ऊर्जावान पुरुषों का मनोरंजन रहे हैं जबकि उनकी स्त्रियाँ उनकी शक्ति से रोमांचित होती रहीं। यद्यपि युद्ध अपनी आदिम अवस्था से बहुत आगे निकल चुका है तथापि यह प्राचीन तत्व आज भी मौजूद हैं यह उन्हें विशेष रूप से याद रखना चाहिए जो युद्ध को हमेशा के लिए समाप्त करना चाहते हैं। केवल अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद ही युद्ध से सुरक्षा प्रदान कर सकता है जबकि विश्व के सभी प्रमुख सभ्य देशों में चल रहा राष्ट्रवादी समाजवाद................इसकी संभवना नष्ट कर देगा।...............स्थायी शान्ति कभी भी इस सी-सा (अर्थात् विजेता और पराजितों या एक के द्वारा दूसरे पर आधिपत्य) से प्राप्त नहीं हो सकती, बल्कि इसके लिए राष्ट्रों के बीच वैमनस्यता के कारणों को ही समाप्त करना होगा। वर्तमान समय में इसके कारण प्रमुखतः कुछ तबकों के आर्थिक हितों में निहित हैं जिन्हें केवल आधारभूत आर्थिक पुनर्रचना से ही समाप्त किया जा सकता है।"

रसेल ने आधुनिक पूँजीवाद को पूरी तरह नहीं तो आज के युद्धों के मूल कारण के रूप में समझा जो अन्य कारणों को अनिवार्यतः उत्प्रेरणा प्रदान करता है। यदि यह न हो तो मनुष्य युद्ध की निरर्थकता को समझ सकेंगे और परस्पर ऐसे समझौते करने की स्थिति में होंगे जिससे भविष्य में इसकी संभावना समाप्त हो सके। यदि राष्ट्र लोकतांत्रिक समाजवादी सरकारों द्वारा शासित रहे और मुनाफ़े की जगह राष्ट्र के समग्र हितों का ध्यान रखा जा सका तो युद्ध की आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी। रसेल ने आगे कहा है, "मैं पुनः यह दोहराता हूँ कि समाजवाद केवल सर्वहारा का ही सिद्धान्त नहीं है। आर्थिक असुरक्षा को समाप्त करके यह कुछ अत्यन्त अमीर लोगों को छोड़कर सभी की खुशहाली का माध्यम है। और जैसा कि मुझे पूर्ण विश्वास है, यदि यह प्रथम श्रेणी के युद्धों को रोकने में सफल हुआ तो यह सम्पूर्ण विश्व की कुशलता को आशातीत रूप से बढ़ाने का कार्य करेगा।

भारत के सन्दर्भ में यह बात विशेष ध्यान देने की है कि इसकी भूमि पर हुए पूर्व कालों के बड़े युद्धों का संबंध अधिकांशतः बाह्य आक्रमणों से रहा है और भारत के राजाओं ने अपवादस्वरूप ही भारत की सीमाएं लांघी जबकि भारत भूमि में ही अपनी अपनी शक्ति और राज्य सीमाओं के विस्तार में वह बराबर लगे रहे। कदाचित् इसका एक बड़ा कारण स्वयं इस भूमि में जीवनयापन और ऐश्वर्य निर्माण के पर्याप्त स्रोत मौजूद होना था। औपनिवेशिक दासता के काल से बाहर निकले इस देश का नेतृत्व निश्चित ही जवाहरलाल नेहरू के काल तक आधे-अधूरे ही सही घरेलू स्तर पर कुछ समाजवादी कार्यक्रमों को अपनाने के साथ ही वैश्विक राजनीति के मंच पर गुटनिरपेक्षता का अनुसरण करते हुए 'पंचशील' के आदर्श की ओर उन्मुख रहा। ऐतिहासिक विरासत के रूप में कश्मीर के मसले पर पाकिस्तान से मिली शत्रुता के कारण घोषित रूप से भारत उससे तीन बड़े छोटे युद्धों में उलझने के लिए बाध्य हुआ है और उत्तर में चीन भी इसकी सीमाओं के लिए संकट पैदा करता रहा है। अन्यथा भारतीय सेनाएं संयुक्त राष्ट्रसंघ के शान्ति मिशनों का ही हिस्सा रही हैं। इधर भारत वैश्वीकरण और उदारीकरण के जाल में फंसते जाने के साथ ही पूँजीवादी राजनीति का शिकार होता दिखाई दे रहा है और समाजवाद की दिशा से विमुख हो चुका लगता है जो विश्व शान्ति और स्वयं भारत के भविष्य के लिए कोई अच्छा संकेत नहीं है। अतः एक समाजवादी दर्शन की दृष्टि से भारत की विदेश नीति और प्रतिरक्षा के सन्दर्भ में राम मनोहर लोहिया की यह उक्ति हमेशा याद रखनी होगी कि, हमारा स्वप्न दुनिया के शीर्ष पर बैठना नहीं सबके साथ समानता और सहयोग और सभी की शान्ति के लिए दुनिया में गैरबराबरी खत्म करने का होना चाहिए क्योंकि दूसरों को पददलित् किए बिना शीर्ष पर नहीं पहुंचा जा सकता और जिसने भी कभी यह किया है उसका पतन भी होना अवश्यसंभावी हुआ है।

स्वराज का स्वप्न

एक लोकतांत्रिक और समाजवादी राष्ट्र के उद्येश्यों और कार्यक्रमों के सन्दर्भ में सुझाई गई बातों से इसके एक ऐसे केन्द्रीकृत सम्पूर्णतावादी या तानाशाही राज्य होने की भी आशंका होती है जो किसी समतामूलक विकास के नाम पर लोगों को उनके जीवन की आवश्यकता से जुड़ी छोटी से छोटी बातों के लिए उसपर निर्भर बना देने के साथ ही उनकी स्वतंत्रता और स्वयं निर्णय लेने के अधिकार को पूरी तरह समाप्त कर देता है। परन्तु वर्तमान् की हमारी समझ के अनुसार लोकतंत्र और समाजवाद दोनों भारत में स्वराज की मूल अवधारणा के अनुरूप राजनीतिक, प्रशासनिक एवं न्यायिक संस्थानों की पुनर्रचना के द्वारा ही संभव है। इसमें हितों और चुनौतियों के स्पष्ट विभाजन के साथ ही

आधारभूत नैतिकता एवं मानवीयता तथा भारत के संविधान में निर्धारित लक्ष्यों के अनुरूप स्वशासन हेतु, अर्थात् निर्णय लेने और हस्तक्षेप करने के दायित्व एवं अधिकारों से युक्त, स्थानीय स्तर से राष्ट्रीय स्तर तक चुनी हुई जन-प्रतिनिधि संस्थाओं या लोकप्रिय सरकारों की स्थापना सन्निहित है। पुनः इसमें स्थानीय और राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से योजनाओं और उपक्रमों के निर्माण और संचालन में लोगों का वास्तविक सहकार और योगदान भी अपेक्षित है। इसके लिए राज्य की भूमिका को प्रतिरक्षा और विदेश नीति तक परिसीमित करने और राष्ट्रीय स्तर पर उगाहे गए राजस्व को केवल राष्ट्रीय महत्व की परियोजनाओं और स्थानीय निकायों के विभिन्न स्तरों पर (ग्राम, नगर, क्षेत्र एवं महानगरों तथा हमारे संघीय ढांचे में निर्धारित राज्यों के स्तर पर) लोगों द्वारा निर्णीत सार्वजनिक हित के कार्यक्रमों के लिए समानता के आधार पर वितरित 'सहायक मदों' के रूप में खर्च करने की व्यवस्था आवश्यक है। जबकि न्यायपालिका का कार्य प्रत्येक स्तर पर नागरिकों के अधिकार और कर्त्तव्य के अनुपालन तथा सम्प्रभु, धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी, लोकतांत्रिक गणराज्य के रूप में राज्य और राष्ट्र के मूलभूत ढांचे को क्षति पहुंचाने वाले किसी भी स्तर पर पारित प्रस्तावों या व्यवहारों में हस्तक्षेप करना होगा। प्रशासन एवं पुलिस जनता के सेवकों के रूप में किसी भी स्तर पर निर्णय लेने की अधिकारी संस्थाओं और न्यायपालिका के निर्देशों और आदेशों को लागू कराने के लिए उन्हीं के द्वारा (संबंधित स्तर की संस्थाओं द्वारा) चयनित एवं नियुक्त होगी। जबकि न्यायपालिका को यह अतिरिक्त अधिकार होगा कि वह अन्य संस्थाओं द्वारा दिए गए निर्देशों और आदेशों में विसंगति या एक द्वारा दूसरे का अतिक्रमण होने पर न्यायोचित सांवैधानिक निर्णय दे। फिर भी, सामन्तवादी और रुग्ण जातिवादी मानसिकता से ग्रस्त क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं तथा नए पूँजीवादी लोभों के साथ पद एवं शक्ति अर्जित करने के हथकण्डों के कारण ग्राम पंचायत और म्युनिस्पैलिटी से लेकर संसदीय स्तर तक लोकतांत्रिक संस्थाओं के गठन और व्यवहार में अनेक असंगतियाँ प्रकट होती रही हैं, उनका समाधान निसंदेह स्वराज के स्थापना की पूर्व शर्त्त होगी।

तो कैसे बनेगी लोकतंत्रीय समाजवादी सत्ता

सब कुछ जानने और समझने के बाद फिर यह प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाता है कि इस पूँजीवादी तुफान् और सामन्तवादी विरासत के बीच क्या लोकतंत्र और समाजवाद में निष्ठा रखने वाले सच्चे नेतृत्व और जनप्रतिनिधियों के लिए सत्ता में पहुंचना संभव होगा। सत्ता प्रतिष्ठान पर नियंत्रण या प्रभावी विपक्ष के रूप में भी उसपर अंकुश रखने की भूमिका एक राजनीतिक कृत्य है। चाहे वह किसी राजनीतिक दल के नाम से हो अथवा गैर राजनीतिक संगठनों द्वारा आंदोलन के माध्यम से हो। राजनीति और सत्ता लोगों को भ्रष्ट बनाती है इस आम धारणा से हटकर राजनीति में शुद्धता के महात्मा गाँधी के आदर्श को ध्यान में रखते हुए ऐसे नेतृत्व का उभार होते रहना तब भी अपरिहार्य है जो इन सिद्धान्तों और उनके अनुसार लक्ष्यों और साधनों के प्रति स्पष्ट हो और अपने आचरण में पारदर्शी हो। भले ही अधिकांशतः निराशाएँ ही हाथ आयीं हों और लोकतंत्र और समाजवाद का नारा देने वाले और भ्रष्टाचार मिटाने का संकल्प लेने वाले दलों द्वारा बार बार ठगा गया हो, और विकास और राष्ट्रवाद का बिगुल बजाने वाले दल लगातार लोगों को छलने में लगे हों, परन्तु राजनीतिक उपक्रम और सक्रियता के बिना तो यह बिलकुल ही संभव नहीं है।

दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि व्यवस्था से पीड़ित या उपेक्षित समुदाय बहुमत में होने के बावजूद उसके कारणों और समाधानों के प्रति अस्पष्ट होने के कारण अपने अपने कुनबों, जातियों, सम्प्रदाय और क्षेत्रों अथवा अपने छोटे तात्कालिक स्वार्थों तक सीमित रहते हैं और यदि उनमें कुछ जनउभार होता भी है तो सत्ता की बड़ी ताकत के सामने उनका टिक पाना संभव नहीं होता। यदि उनका विद्रोह या आन्दोलन कुछ गंभीर हुआ तो उन्हें कुछ छोटी मोटी राहत देकर संतुष्ट कर दिया जाता है। यहां जॉर्ज बर्नार्ड शॉ की अपने समय की इस निराशा को याद कर लेना भी उचित होगा कि जहां आधुनिक समाज और सभ्यता निर्बाध पूँजीवाद से जकड़ी हुई है, वहीं आम लोगों के इससे मोहभंग का लाभ समाजवाद के व्यापक स्तर पर प्रसार और उसमें किसी बुद्धिमत्तापूर्ण विश्वास के रूप में नहीं दिखाई दिया है।' (while modern society and civilization itself have fallen prey to unfettered capitalism, the "loss of popular faith in it has gone much further than the gain of any widespread or intelligent faith in socialism.) कुलमिलाकर यह समझना भी ज़रूरी है कि ऐसे तमाम एकाकी जनउभारों या जनआंदोलनों के बीच व्यापक बदलाव की समझ पैदा करना और उन्हें परस्पर सूत्रबद्ध कर इस बड़े लक्ष्य की ओर अभिमंत्रित किए बिना किसी बड़े उद्देश्य को प्राप्त करना असंभव है। इसके लिए राजनीतिक संगठन और नेतृत्व सभी आवश्यक होगा।

समाप्त

कार्यक्रम रपोर्ट

समान शिक्षा प्रणाली बनाम नई शिक्षा नीति

समाजवादी जनपरिषद की वाराणसी इकाई द्वारा दिनांक 6 अगस्त को पराड़कर भवन, मैदागिन, वाराणसी में 'समान शिक्षा प्रणाली बनाम नई शिक्षा नीति' विषय पर आयोजित यह जनसंवाद आशातीत रूप से सफल रहा जिसमें वाराणसी तथा पूर्वांचल के विभिन्न जिलों से आए अनेक विचारशील व्यक्तियों तथा सामाजिक एवं वैचारिक संगठनों के प्रतिनिधियों ने भगीदारी की। उपस्थित व्यक्तियों एवं संगठनों में समाजवादी जन परिषद् के साथियों के अतिरिक्त काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ तथा महाविद्यालयों के अनेक अध्यापक एवं छात्र, वाराणसी, मिर्जापुर एवं आजमगढ़ से माध्यमिक एवं प्राथमिक शिक्षक संघ, उ.प्र. से सम्बन्धित शिक्षक गण, वाराणसी के अनेक गणमान्य नागरिक, चिन्तक एवं सामाजिक कार्यकर्त्ता, 'भगत सिंह छात्र मोर्चा', 'इन्कलाबी छात्र मोर्चा', का.हि.विवि. एवं इलाहाबाद, 'स्टुडेण्ट फॉर चेंज', का.हि.विवि. आई. आई. टी., 'इग्नस पहल', 'मशाल संस्कृति मंच' के युवा साथी व छात्र-छात्राएँ, 'साझा संस्कृति मंच', वाराणसी के सदस्य संगठनों के प्रतिनिधि, 'परिवर्तनगामी छात्र संगठन', 'स्ववित्त पोषित शिक्षक संघ', गोरखपुर-देवरिया के प्रतिनिधि तथा मऊ, आजमगढ़, बलिया, जौनपुर, गाज़ीपुर, चंदोली, मिर्जापुर, सोनभद्र, इलाहाबाद आदि जिलों से आए साथी सम्मिलित थे।

मुख्य वक्ता के रूप में विषय पर बोलते हुए विख्यात् शिक्षाविद् प्रोफेसर अनिल सदगोपाल ने कहा कि शिक्षा में सुधार के नाम पर नई शिक्षा नीति की प्रस्तावना से ही प्रकट है, इसके द्वारा शिक्षा के व्यवसायीकरण और उसकी विसंगति को स्वीकार कर उस पर मुहर लगाने का ही काम किया जा रहा है। देश के बहुसंख्यक समाज की बड़ी चिन्ता है कि क्या उसकी सन्तानें अच्छी और मुफ़्त शिक्षा पाने की स्थिति में होंगी या क्या सब शिक्षा भी पाने की स्थिति में होंगी? क्या शिक्षा में गुणवत्ता और योग्यता का पैमाना मोटी मोटी फीस लेकर शिक्षा देने वाले निजी क्षेत्र के सितारा स्कूल-कॉलेज-विश्वविद्यालय के प्रबन्धक, कॉर्पोरेट घराने और शिक्षा माफिया तय करेंगे? हम सबको शिक्षा चाहिए, गुणवत्तायुक्त और मुफ्त शिक्षा चाहिए, हमारी बहुलतावादी संस्कृति के अनुरूप राष्ट्रपरक और समतापरक शिक्षा चाहिए। स्वयं अपने उपार्जन/रोजगार और समाज और राष्ट्र के नवनिर्माण के लिए उत्पादन और श्रम को केन्द्र में रखकर ज्ञान-विज्ञान से युक्त और भेदभाव से मुक्त शिक्षा चाहिए जिसकी जिम्मेदारी से हम सरकारों को मुंह चुराने नहीं दे सकते। हम बहुसंख्यक समाज को शिक्षा से वंचित रखते हुए कुछ तकनीकि रूप से शिक्षित-प्रशिक्षित व्यवसायी वर्ग और धनपशुओं का गुलाम बनते नहीं देख सकते। यह राष्ट्र की जिम्मेदारी है, सरकारों की जिम्मेदारी है और हम जानते हैं कि इसके लिए राष्ट्र और सरकारों के पास न तो संसाधनो की कमी है और न ही वित्तीय सीमाओं की बात है। अगर कमी है तो इच्छाशक्ति और उद्येश्यों की। अभाशिअम के उद्देश्य को दोहराते हुए उन्होंने बल दिया कि हम सरकार द्वारा पोषित पड़ोसी एवं समान स्कूली व्यवस्था की मांग करते हैं और हमें के.जी. से पी.जी. तक मुफ्त एवं समान शिक्षा से नीचे कुछ भी नहीं चाहिए। प्रोफेसर अनिल सदगोपाल के वक्तव्य के समर्थन में अनेक प्रतिभागियों ने अपनी बातें कहीं और अपने अनुभव व्यक्त किए। इनमें प्रमुखतः श्री योगेन्द्र नारायण शर्मा, डॉ. स्वाति, फादर आनन्द, चैधरी राजेन्द्र के नाम उल्लेखनीय हैं। कुछ साथियों ने अभाशिअम के अभियान की व्यावहारिकता और सफलता के विषय में अपनी शंकाएं भी उठायीं और योगेश आदि कुछ युवा साथियों एवं छात्रों ने भी अपनी कुछ जिज्ञासाओं को रखा जिनका अनिल जी ने अपने प्रत्युत्तर में उचित समाधान प्रस्तुत किया।

सभा की अध्यक्षता करते हुए प्रतिष्ठित गांधीवादी श्री अमरनाथ ने राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के जंतर की याद दिलाते हुए कहा कि किसी भी व्यवस्था के अच्छे या खराब होने की एक ही कसौटी है कि वह समाज के सबसे कमजोर आदमी तक पहुंच रही है या नहीं। इस कसौटी पर हमारी शिक्षा व्यवस्था पूरी तरह असफल सिद्ध हुई है। शिक्षा-व्यवस्था में सुधार के लिए बनाए गए विभिन्न आयोगों (विशेषतः कोठारी आयोग) की अनेक उपयोगी सिफ़ारिशों को ठंडे बस्ते में डाल दिया गया और धीरे धीरे उसे निजी क्षेत्र के जिम्मे छोड़ते हुए सरकारी जिम्मेदारी से हाथ खींचना भी शुरू कर दिया। यहां तक कि बाजार की ज़रूरत को ध्यान में रखते हुए देश की उच्च शिक्षा का खाका अब

सरकारों द्वारा गठित बिड़ला-अंबानी समिति ने तय कर दिया। नतीजा हुआ कि शिक्षा एक लाभकारी मंहगा व्यवसाय बन गई। देश में दिनों दिन बढ़ता कमजोर समाज सरकारी और सरकारी अनुदानप्राप्त स्कूलों-कॉलेजों की लगातार गिरती हुई व्यवस्था के कारण सस्ती परंतु गुणवत्तायुक्त शिक्षा से वंचित होता गया।

प्रारंभ में श्री अफलातून ने अभाशिअम और उसके समान शिक्षा अभियान का परिचय देते हुए बताया कि अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच द्वारा वर्ष 2009 से ही केजी से पीजी तक की समान एवं गुणवत्तायुक्त मुफ्त एवं आवश्यक शिक्षा तथा पड़ोसी स्कूल आदि की व्यवस्था की माँग को लेकर आंदोलन चलाया जा रहा है। सरकारी स्कूलों की व्यवस्था में सुधार से सम्बन्धित, अगस्त 2015 में आए इलाहाबाद उच्च न्यायालय के ऐतिहासिक फ़ैसले ने इस आंदोलन की आवश्यकता को और पुष्ट किया है जिससे सरकार लगातार मुँह चुरा रही है। 2017 के उत्तर प्रदेश विधान सभा चुनाव के मद्देनज़र सम्पूर्ण प्रदेश में इस मुद्दे को सामने लाने और लोगों में इसके प्रति जागरुकता पैदा करने के उद्देश्य से ही पूर्वी उत्तर प्रदेश में अभाशिअम और उसके सदस्य संगठन समाजवादी जन परिषद् की वाराणसी इकाई द्वारा दिनांक 6-7 अगस्त 2016 को इस जनसंवाद और कार्यशाला का आयोजन किया गया है। अतिथियों का स्वागत समाजवादी जन परिषद, वाराणसी जिला के अध्यक्ष श्री नजरुल भाई ने और अन्त में धन्यवाद कार्यक्रम-संयोजक डॉ. महेश विक्रम ने दिया। सभा का सफल एवं सुचारू संचालन समाजवादी जन परिषद, वाराणसी जिला की महामंत्री डॉ. नीता चौबे ने किया।

जनसंवाद की सफलता का एक प्रमाण यह भी रहा कि तीन घंटे तक गंभीर रूप से चले इस कार्यक्रम के उपरान्त भी छात्रों एवं युवाओं की अनेक जिज्ञासाओं के समाधान हेतु समीप के कम्पनी गार्डेन में प्रोफेसर अनिल सदगोपाल तथा तबतक पहुंच चुके डॉ. विकास गुप्ता के साथ लगभग दो घंटे तक उनकी वार्ता चली।

कार्यशाला का शुभारम्भ विश्व ज्योति जन संचार केन्द्र के प्रेरणा कला मंच के साथियों द्वारा समूह गान से हुआ। तत्पश्चात् परिचय सत्र चला जिससे पता चला कि प्रतिभागियों में कई विश्वविद्यालयों के छात्र, छात्राएँ, प्राथमिक स्तर से माध्यमिक एवं विश्वविद्यालय स्तर तक के शिक्षक और विभिन्न व्यवसाय से जुड़े व्यक्ति एवं सामाजिक कार्यकर्ता थे, जो विभिन्न ज़िलों, क्षेत्रों, जाति, लिंग, एवं धर्म तथा समाजिक तबकों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। प्रतिभागियों में डॉ. मुनीज़ा खाऩ, गाँधी विद्या संस्थान, वाराणसी, श्री चैधरी राजेन्द्र, डॉ. अनिल कुमार चैधरी, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, डॉ. ओम शंकर, कार्डियोलॉजिस्ट, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, डॉ. अब्दुल वहीद अंसारी, मुस्लिम एकेडेमी, श्री पैट्रिक जैकब, श्री पंकज मिश्रा, श्री खुर्शीद अनवर, श्रीमती राजेश्वरी कुशवाहा, श्रीमती शकुन्तला सिंह, श्री प्रशान्त कुमार यादव, का.हि.वि.वि. से श्री मनीश कुमार, सुश्री सुधा सोनकर, शोध छात्रा, श्री सुरेश कुमार, शोध छात्र, 'भगत सिंह छात्र मोर्चा' से श्री विनय, श्री अनुपम कुमार, सुश्री आरती सुमन, श्री मोनीश, श्री शैलेश कुमार एवं 'इन्कलाबी छात्र मोर्चा', का.हि.विवि. एवं इलाहाबाद से श्री रितेश विद्यार्थी, श्री रामचन्द्र एवं साथी, 'स्टुडेण्ट फॉर चेंज', का.हि.विवि. आई. आई. टी. से सुश्री स्वाति अग्रवाल, श्री राकेश उर्दुके, श्री प्रशांत साइ, श्री हेमन्त, सुश्री वन्दना एवं सुश्री इशिता, 'इग्नस पहल' से वीरेन्द्र दुबे, श्री हौशिला प्रसाद एवं श्री मनमोहन श्रीवास्तव, 'मशाल संस्कृति मंच' से श्री युद्धेश कुमार, 'लोक चेतना समिति' से श्री नंदलाल मास्टर, 'प्रेरणा कला मंच' से फादर आनन्द, श्री मुकेश और साथी, 'परिवर्तनगामी छात्र संगठन', 'स्ववित्त पोषित शिक्षक संघ', गोरखपुर-देवरिया से श्री चतुरानन ओझा, 'प्राइमरी शिक्षक संघ', आजमगढ़ से श्रीमती अनीता साइजेस, अध्यक्ष, उ.प्र. प्राथमिक शिक्षक संघ एवं श्री बृजेश कुमार यादव और उनके साथी, 'समाजवादी जनपरिषद्', वाराणसी से श्री अफलातून, डॉ. स्वाति, डॉ. नीता चौबे, एड. प्योली स्वातिजा (नई दिल्ली), सैय्यद मकसूद अली, श्री नजीर अहमद, श्री लाल बहादुर, सुश्री सोनी कपूर, श्री संतोष कुमार, डॉ. आनन्द कुमार यादव, श्री राजेश कुमार यादव, डॉ. महेश विक्रम एवं सजप, मऊ से श्री विक्रमा मौर्य एवं रामाज्ञा आदि सम्मिलित थे।

परिचय सत्र में प्रत्येक प्रतिभागी से अपने अपने क्षेत्र की शिक्षा से सम्बन्धित 'एक' समस्या रखने को कहा गया था। प्रतिभागियों द्वारा रखी गयी समस्याओं से प्रतीत हुआ कि वह सभी अपने आस-पास की सामाजिक परिवर्तनकारी घटनाओं से पूरी तरह परिचित हैं। प्रस्तुत की गयी समस्याएं स्वयं में अलग थीं कहीं दोहराई नहीं गयी थीं।

'शिक्षा का औपनिवेशिक काल और मोजूदा सवालों से रिश्ता' विषय पर प्रो0 अनिल सदगोपाल ने मैकाले की शिक्षा नीति से शुरू करके उसकी तीन महत्वपूर्ण बातों को बताया जिसका प्रभाव आज भी दिखाई देता है। वे तीन बातें भाषा, ज्ञान, और धन के खर्च से सम्बन्धित थीं। मैकाले की शिक्षा नीति की प्रतिक्रिया स्वरूप शिक्षा पर सावित्रीबाई फुले, ज्योतिबा फुले, दादाभाई नौरोजी, राजर्षि साहू जी

और गाँधी, अम्बेडकर के विचारों को भी अनिल जी ने विस्तार से समझाया, जिसके द्वारा ऐसी समान शिक्षा प्रणाली जो राज्य द्वारा पोषित हो और जो उत्पादक काम से ज्ञान उत्पन्न होने का शिक्षाशास्त्र था उसे स्पष्ट किया। बताया कि मैकाले की शिक्षा प्रणाली के विरोध में सावित्री बाई फुले ने चार स्कूल खोले और स्थानीय मोड़ी भाषा में शिक्षा देने की शुरूआत की। उन्होंने हण्टर कमेटी द्वारा दिये गए प्रत्यावेदन की चर्चा की जिसमें ज्योतिबा फुले ने अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था को बेकार और अन्यायपूर्ण बताया था। प्रत्यावेदन में फुले ने कहा था कि अंग्रेजी सरकार गरीबों के धन को कर के रूप में वसूल कर उससे उच्चवर्ग और उच्च जाति के लोगों को शिक्षित कर रही है और यह भी कहा था कि उच्च जाति के अध्यापकों की जगह पर उत्पादक काम करने वालों को अध्यापक बनाया जाए। दादा भाई नौरोजी ने पहली बार अपने अध्ययन से यह खुलासा किया कि अंग्रेजी शासन में भारत को कैसे गरीब बनाया जा रहा है। उन्होंने गरीबी और शिक्षा के इस रिश्ते को समझा कि जब गरीबी बढ़ती है तो लोग अशिक्षित होते हैं और जब लोग शिक्षा पाते हैं तो उनमें गरीबी से जूझने की ताकत आती है। सबको शिक्षा मिले यह बात सबसे पहले दादा भाई नौरोजी ने ही कही थी। सदगोपाल जी ने आगे बताया कि गोन्डल के राजा ने अपने रियासत में हर बच्चे को प्राथमिक शिक्षा का अधिकार दिया था। उन्होंने ही गुजराती में विश्वकोश तैयार करवाया था जो भारतीय भाषाओं में पहला विश्वकोश है और मैकाले को जबाब था कि किसी भी भाषा में ज्ञान दर्ज किया जा सकता है। फिर साहू जी द्वारा कोल्हापुर में शिक्षा पर किये गये खर्च, जो बॉम्बे प्रेसिडेन्सी के बराबर था, से यह निष्कर्ष निकाला की शिक्षा व्यवस्था को ठीक करने के लिये सवाल पैसे का नहीं, बल्कि सरकारों की नियत का है। प्रो० सदगोपाल ने गाँधी अम्बेडकर के सम्वाद की बात करते हुए बताया कि गाँधी के ऊपर अम्बेडकर के विचारों का पूरा प्रभाव था। प्रमाण के लिये उन्होंने 1938 में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में गाँधी द्वारा दिये गये शिक्षा पर भाषण का जिक्र किया, जिसमें गाँधी ने केवल शिक्षा पर बात करते हुए स्कूलों के पाठ्यक्रम के केन्द्र में समाज के पिछडे और दलित जातियों द्वारा किये जाने वाले उत्पादक कामों को रखने की बात की थी। फिर बॉम्बे प्लान को बताया जिसके माध्यम से भारत के पूँजीपतियों ने सार्वजनिक धन से अपने को मजबूत करने की नीति को चलवाया। इसी का परिणाम था भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था बनी और आज़ादी की लड़ाई के दौरान आजाद भारत के लिए जो शिक्षाशास्त्र तैयार हुआ था उसे छोड़ दिया गया। इन सभी बातों को विस्तार से स्पष्ट किया।

इसी विषय पर डॉ० विकास गुप्ता ने अपना बहुत ही सारगर्भित व्याख्यान दिया। जिसमें उन्होंने वर्तमान समस्याओं की जड़ों के औपनिवेशिक काल में ही बने होने की बात का और खुलासा किया। विकास जी ने औपनिवेशिक काल की शिक्षा को समझने के लिये साम्राज्यवाद बनाम राष्ट्रवाद का स्वरूप समझाया और आजादी के बाद औपनिवेशिक शैक्षिक विचारधारा को आगे बढ़ाने वाले भारतीय मूल के ताकतवर तबके को समझने की बात कही। 1853 के चार्ल्स वुड के घोषणापत्र की चर्चा करते हुए उन्होंने बताया कि इसमें भारत के शिक्षा प्राप्त करने वाले लोगों को भाषा के आधार पर बाँटा गया था और भारत के पारम्परिक ज्ञान को शिक्षा से अलग कर दिया गया था। वुड ने अपने घोषणापत्र में यह भी लिखा था कि हम किसी भी स्थिति में नहीं चाहते हैं कि राज्य शिक्षा के सभी संस्थानों को चलाए। विकास जी ने हण्टर कमेटी के बारे में कहा, यद्यपि वर्तमान सरकारें शिक्षा नीति बनाने में जितनी लोकतान्त्रिक हैं उससे कई गुना ज़्यादा हण्टर कमेटी लोकतान्त्रिक थी। लेकिन हण्टर ने भी शिक्षा में राज्य की भूमिका को कम किया था। उन्होंने बताया कि मास्टर रामचन्द्र के एक शिष्य महमुदुल्लाह साहब ने उर्दू में विज्ञान की 200 किताबें लिख कर यह साबित किया कि किसी भी भाषा में आधुनिक विज्ञान लिखा जा सकता है।

इसके बाद सवालों का दौर शुरू हुआ इसमें जनवाद से जुड़े सवाल, भाषा के सवाल, जाति संघर्ष पर सवाल, काम की अनुभवहीनता पर सवाल, अल्पसंख्यक स्कूलों से सम्बन्धित एवं अध्यापक नियुक्ति पर सवाल, औपनिवेशिक काल के पूर्व और बाद के पाठ्यक्रमों में अन्तर पर सवाल, और भारत अमीर देश था तो जनता कैसे गरीब थी आदि सवाल पूछे गये।

उत्तर विकास जी ने दिया। पूर्व आधुनिक काल से सम्बन्धित सवालों के उत्तर में उन्होंने कहा कि उस समय के शिक्षा के बारे में जानकारी बहुत कम और सतही है और उस समय पाठ्यक्रम शिक्षक के अधिकार क्षेत्र में होता था। अंग्रेजों के काल में पाठ्यक्रम शिक्षा विभाग के आफिस के लोगों द्वारा निर्धारित होता था। उस समय कोई निर्धारित किताब नहीं होती थी। एक प्रश्न के जबाब में उन्होंने बताया कि उस समय नये समाज के निर्माण की बात तो चल रही थी लेकिन वह नया समाज आधुनिक समाज नहीं था। बल्कि पुराने के प्रति लोगों में घृणा पैदा की जा रही थी। भाषा के सवाल पर उन्होंने बताया कि उस समय भाषा के माध्यम से समाज को बाँटने का काम ही हुआ और शिक्षा के

लिये अंग्रेजी भाषा जरूरी नहीं थी।

इसके बाद डा0 अनिल सदगोपाल जी ने शेष सवालों का जबाब दिया। उन्होंने ध्यान दिलाया कि औपनिवेशिक काल के पहले भारत में वर्ग नहीं था केवल जाति थी और जाति संघर्ष था। वर्ग संघर्ष बाद में शुरू हुआ। राष्ट्रवाद के चरित्र पर जबाब देते हुए उन्होंने कहा कि असली राष्ट्रवाद वही है जो जनवादी राष्ट्रवाद है। एक सवाल के जबाव में उन्होंने स्पष्ट किया कि भारत के पास सम्पदा थी मगर वितरण सही नहीं होने के कारण जनता गरीब थी, वह समस्या आज भी है। भाषा के सवाल पर उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा कि यदि कोई अपनी मातृभाषा में ज्ञान प्रकट नहीं कर पा रहा है तो इसका अर्थ यही होता है कि वह अपने विषय को ठीक से समझा ही नहीं है।

भोजन से पहले दो और विषयों पर चर्चा होनी थी। एक विषय छूट गया, जो था 'शिक्षा में अन्दोलन-मुद्दे प्रक्रियाएं और संगठन'। 45 मिनट के भोजनावकाश के बाद समय को देखते हुए एक और विषय 'शिक्षा का वैश्वीकरण और इसके निहितार्थ' को भी छोड़ना ़पड़ा और उस पर केवल संक्षिप्त चर्चा ही हो सकी।

शिक्षा नीति का विश्लेषण विषय पर डा0 अनिल जी ने बताया कि आम धारणा है कि नीतियाँ सही बनती हैं, उनका पालन ठीक से नहीं होता है, लेकिन बात उलट है कि नीतियाँ ही गलत बनती हैं उनका पालन सही से करवाया जाता है। भारत में शिक्षा की बदहाली असल में शिक्षा नीतियों के सही क्रियान्वयन से हुई है। नई शिक्षा नीति को समझने के लिए उन्होंने कहा कि लाइनों के बीच में जो सफेद जगह होती है उसमें बिना कुछ लिखे जो लिखा होता है उसे पढ़ना ज़रूरी है। जिसका निहितार्थ साफ़ है कि भारत के सभी बच्चों को शिक्षित नहीं किया जायेगा। 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति से लेकर अब तक की सभी शिक्षा नीतियों में अप्रत्यक्ष रूप से यह योजना रही है कि भारत के बहुसंख्यक लोगों को शिक्षा से दूर रखा जाए। शिक्षा का भ्रष्टाचार शिक्षा नीतियों में ही होता है।

आन्दोलन विषय पर उन्होंने कहा कि आन्दोलन करना सीखना हो तो आन्दोलनों में प्रतिभाग करके ज्यादा अच्छे से सीखा जा सकता है। इस विषय पर विकास गुप्ता जी ने सुझाव दिया कि खुद भी आन्दोलन करके सीखा जा सकता है। उन्होंने आन्दोलन के तीन घटक बताये- 1- आम आदमी (अभिभावक), 2- शिक्षक और शिक्षक संगठन, 3- विद्यार्थी और विद्यार्थी संगठन

हर आन्दोलन का उद्देश होता है। उद्देश्य खत्म होने के बाद ही लड़ाई समाप्त होती है। हमारा उद्देश्य पूरी तौर पर मुफ्त एवं राज्य द्वारा पोषित के0 जी0 से पी0 जी0 तक समान शिक्षा व्यवस्था है जो लोकतन्त्र और सहभागिता की बुनियाद पर खड़ी हो और जो विभिन्नताओं को सम्मिलित करते हुए विषमताओं को बाहर करती हो।

उपरोक्त उद्देश्य को कैसे प्राप्त करेंगे ? उन्होंने कहा कोई निश्चित नियम नहीं हैं। फिर भी कई तरीके अपनाए जा सकते हैं। उन्होंने- 1- सरकारी स्कूल व्यवस्था को मजबूत करके जनता का विश्वास जीतना। 2- निजी शैक्षिक संस्थानों का सख्ती से नियमन करवाना। 3- सरकार पर नीतियों/योजनाओं के अन्तरविरोधों को दूर करने के लिये दबाव डालना। 4-मुद्दों को अपने ढंग से समझना, व्याख्या करना और समस्याओं से जोड़ना आदि उपायों पर चर्चा की।

इसके बाद अन्तिम सत्र विकास गुप्ता जी का था। विषय था, नई शिक्षा नीति- विश्लेषण, चुनौतियाँ और प्रतिरोध का स्वरूप (इलाहाबाद हाईकोर्ट फैसला समेत)

नई शिक्षा नीति पर बात करने से पहले उन्होंने बाजारीकरण और साम्प्रदायीकरण कैसे बढ़ाया जा रहा है इसे स्पष्ट किया तथा भारतीय संविधान में मूलाधिकार और लोक कल्याणकारी राज्य की सीमाएं बताईं। संविधान में वर्णित समता की जगह पर भारत सरकार के कोश से समावेशी शब्द आ गया है। इसका सही अर्थ है भेदभाव पूर्ण व्यवस्था में कुछ-कुछ लोगों को जगह देना, वह भी हैसियत के आधार पर। उन्होने बिड़ला-अम्बानी रिर्पोट का जिक्र करते हुए कहा कि रिर्पोट में शिक्षा के उद्देश्य बदल गये हैं। रिर्पोट के अनुसार शिक्षा कोई सामाजिक सरोकार की वस्तु नहीं है, इस नजरिये को बन्द कर देना चाहिये।

2015 की नई शिक्षा नीति कितनी आलोकतान्त्रिक तरीके से बनायी गयी है इसको उसके प्रश्नावली में पूछे गये सवालों के चरित्र और उन प्रश्नों पर मिले ढ़ाई लाख कमेन्ट और उस पर चर्चा को जल्दी से निपटा दिए जाने से ही समझा जा सकता है। नीति की प्रस्तावना में प्राचीन मूल्यों को रखकर, वर्तमान समाज को छोड़ दिया गया है। इसी से निष्कर्ष निकालें कि यह नीति नवउदारवादी और साम्प्रदायिक विचार से लबरेज है। इसमें एन0 सी0 एफ0 2005 से चोरी करके उद्देश्यों को रखा गया है। उन्होंने बताया कि इस शिक्षा नीति से पैसे वालों को शिक्षा मिल सकती है गरीबों को नहीं।

इसके बाद डॉ. ओम शंकर जी, बी0एच0यू0 के ह्रदय रोग विशेषज्ञ ने अपना विचार रखा कि स्वास्थ्य और शिक्षा दोनों मुफ्त में मिलना चाहिये यदि कोई पैसा लेता है तो उसे अपराधी घोषित होना चाहिये।

इसके बाद पुनः प्रश्नों का दौर चला जिसमें राष्ट्रवाद से जुड़े सवाल, लिग-भेद के सवाल सामाजिक सरोकारों के सवाल, शिक्षा व्यवस्था और नीति तथा प्राचीन भारत में शिक्षा के चरित्र और भौतिकतावाद से जुड़े सवाल पूछे गये।

पहले डॉ0 महेश विक्रम सिंह जी ने जबाव दिया कि जब प्राचीन भारत की बात आती है तो लोग वैदिक गुरु-शिष्य परम्परा, धर्म और अध्यात्म और धार्मिक चरित्र की बात करने लगते हैं लेकिन उसके समाजिक पक्ष से बचते हैं। हमें अपने विमर्श में उसके सामाजिक पक्ष यथा जातिभेद को शामिल करना चाहिये। जबकि भारत की प्राचीन परम्परा में शिक्षा के लिए बौद्ध संघों की समतावादी व्यवस्था और उत्पादन कार्य में भूमिका के विषय को अनदेखा छोड़ देते हैं। समतावादी वैश्विक दृष्टि से विश्व दर्शनों के ज्ञान से युक्त वास्तविक विश्वविद्यालयों के निर्माण में बौद्धों के योगदान तथा लोकायत आदि दर्शन की चर्चा तक नहीं होती। विकास जी ने इसका दूसरा पक्ष रखा कि इसीलिये विरोधी लोग हमें घेरते है कि हम भारत के परम्परगत् मानवीय गुणों की बात नहीं करते, हमें जबरन भारत विरोधी सबित करने की कोशिश होती है। एक सवाल के जवाब में विकास जी ने कहा कि हमें समान शिक्षा के साथ शिक्षाशास्त्र भी बदलना होगा। लिंगभेद के सवाल पर उन्होंने कहा कि लड़ाई स्त्री-पुरूष की नहीं है बल्कि पितृसत्ता की है।

इसके बाद पूर्वांचल में आन्दोलन को कैसे आगे बढ़ाएँ इस विषय पर चर्चा हुई। चर्चा के बाद निष्कर्ष निकला कि अभाशिअम से जुड़े संगठन अपनी अपनी तरह से इस मुद्दे पर क्रियाशील होने के साथ ही शिक्षक एवं छात्र संगठनों को इससे जोड़ने का काम करें और आवश्यकतानुसार परस्पर समन्वयन स्थापित करें। हर जिले में कमेटियाँ बनाकर शिक्षक, छात्र और अभिवावकों के बीच संवाद पैदा करें।

कार्यशाला का संचालन डॉ. नीता चौबे ने किया। अन्त में आयोजक मण्डल द्वारा विश्वज्योति जन संचार केन्द्र के निदेशक फ़ादर आनन्द को धन्यवाद देते हुए कार्यशाला समाप्त हुई।

(यह प्रत्यावेदन मूलतः श्री बृजेश कुमार यादव, ग्राम-चकसेठवल, पोस्ट-रानी की सराय, जिला-आजमगढ (उ0प्र0), पिन-276207, मो0-9936838937 द्वारा तैयार किया गया तथा डॉ. महेश विक्रम, कार्यक्रम-संयोजक एवं डॉ. नीता चौबे द्वारा संपादित किया गया है।)

नियमगिरि की ऐतिहासिक जीत

लिंगराज

ओड़िशा के कालाहांड़ि और रायगढ़ा जिले के सीमा पर स्थित नियमगिरि पर्वत शृंखला की सुरक्षा के लिए 2002 से वेदान्त कंपनी की बक्साईट खदान परियोजना के खिलाफ जारी जन आंदोलन को गत 8 जनवरी 2014 को एक निर्णायक जीत हासिल हुई थी जब भारत की सुप्रीम कोर्ट ने अपने ही राय (18 अप्रैल 2013) के अनुसार नियमगिरि इलाके में बसे 12 गाँव के ग्रामसभा द्वारा पारित सर्वसम्मत प्रस्ताव के अनुरूप कंपनी को सरकार द्वारा दी गयी खदान के लिए सभी अनुमति रद्द कर दी थी। हमारे लोकतंत्र और न्याय व्यवस्था की कई खामियों तथा विषमतापूर्ण चरित्र के बावजूद इस ऐतिहासिक फैसले में न सिर्फ इलाके की जनता में बल्कि देश भर के लोकतंत्रप्रेमी जनवादी ताकतों और लोगों में एक आशा की किरण दिखी थी।

वैसे तो स्थानीय बहुसंख्यक और एक आदिम जनजाति 'ड़ोंगरिया कोंध' (स्थानीय उच्चारण –ड़ंगरिया कन्ध) लोगों के नेतृत्व में गठित 'नियमगिरि सुरक्षा समिति' के बैनर तले संचालित जमीनी लड़ाई शुरू से ही एक स्पष्ट दिशा की थी और नजरिया रहा। लेकिन इस आंदोलन की एक खासियत है कि विभिन्न स्तरों पर (राज्य/राष्ट्रीय/लंदन में कंपनी का जेनेराल बोडी मीटिंग) सक्रिया समर्थन इसके साथ सुप्रीम कोर्ट में जनहित याचिका के जरिये कानूनी लड़ाई का एक अहम भूमिका थी। इस मायने में 'नियमगिरि' नामक इस पर्वतमाला की सुरक्षा, स्थानीय आदिवासियों के लिए उनके ड़ोंगर देवता 'नियमराजा' के प्रति आस्था का सवाल देश के संविधान और 'नियम' कानून पर भरोसे के साथ जुड़ा रहा।

इस आंदोलन की तार्किक परिणति भी 'नियम की स्थापना और जीत' से हुई है।

इसके बावजूद कॉरपोरेट नियंत्रित राजनीति का आज का दौर में हमारे मुल्क की न्याय व्यवस्था के इस सकारात्मक रुख को विश्वास करना, यानी आंदोलन में लोगों की जीत मान लेना भी आसान नहीं था। ओड़िशा में सत्तासीन (विगत 16 साल के लगातार) नवीन पटनायक नेतृत्ववाली राज्य सरकार शुरू से ही विकास और औद्योगीकरण के नाम पर देश का संविधान और नियम कानून को ताक में रख कर कंपनी के हित में सब कुछ करती रही। 2007-08 में इस मामले की सुनवाई के दौरान सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश रहे ओड़िशा के ही अरिजीत पथायत ने तो कंपनी के समर्थन में ऐसा रुख अपनाया कि आदिवासियों के हक की बात सुनने के लिए भी तैयार न थे। शुक्र है कि केंद्र में सत्तासीन कांग्रेस नेतृत्ववाली पिछली सरकार के दरम्यान राहुल गाँधी ने इस आंदोलन के संदर्भ में नियमगिरि पधार कर खुद को 'आदिवासियों का सिपाही' बनने के वादा के साथ इस मामले में आदिवासियों का पाला भारी होने लगा और पर्यावरण मंत्री जयराम रमेशके सक्रिय पहल के साथ सुप्रीम कोर्ट का रुख भी सकारात्मक रहा।

देश की राजनैतिक और न्याय व्यवस्था संबंधी उपरोक्त हकीकत के मद्देनजर केन्द्र में सत्ता परिवर्तन के साथ 2016 में नरेन्द्र मोदी नेतृत्व वाली सरकार बनी तो तमाम कॉरपोरेट जगत के साथ-साथ वेदांत कंपनी को भी लगा होगा कि उनके लिए 'अच्छे दिन' आ गए। मौसम का रूख भाँप कर नवीन पटनायक सरकार ने राज्य सरकार की खदान निगम की ओर से गत फरवरी माह (2016) में सुप्रीम कोर्ट में पिछली (2013 में आयोजित) ग्रामसभा की कुछ खामियों को गिनाते हुए दुबारा नियमगिरि इलाके में ग्रामसभा के लिए याचिका दायर की। इस मामले की सुनवाई करते हुए आखिर गत 1 अप्रैल को सुप्रीम कोर्ट की एक तीन सदस्य पीठ ने उस आवेदन को खारिज कर दिया। वेदांत कंपनी के समर्थन में ओड़िशा सरकार का फिर एक नापाक इरादा देश की सर्वोच्च न्यायालय द्वारा नाकाम हो गया। नियमगिरि सुरक्षा के लिए संघर्षरत सभी के लिए यह राय एक ऐतिहासिक और निर्णायक जीत का सुअवसर था।

इस पृष्ठभूमि में इसी साल गत 5 जून, विश्व पर्यावरण दिवस को नियमगिरि सुरक्षा समिति ने नियमगिरि को बचाने का संकल्प को दोहराते हुए 'विजयदिवस' के रूप में मनाने की योजना बनायी। 29 मई से सप्ताह व्यापी पदयात्रा का आयोजन किया गया। दो टोली में बँटकर आंदोलन के कार्यकर्ताओं ने नियमगिरि में बसे एक सौ से ज्यादा गाँवों का दौरा किया। एक जश्न के माहौल में 5 जून को लांजिगढ़ के पास जगन्नाथपुर गाँव के आम बागान में एक जीत और संकल्प सभा का आयोजन किया गया।

इस कार्यक्रम में मुख्य वक्ता और आकर्षण का केन्द्र थे सुप्रीम कोर्ट के एडवोकेट श्री संजय पारिख, जिन्होंने इस कानूनी जीत को हासिल करने के लिए शुरू से मदद किया। जनआंदोलनों का राष्ट्रीय समन्वय के नेता सुश्री मेधा पाटकर ने इस कार्यक्रम के मुख्य अतिथि बतौर आंदोलन की ओर से श्री पारिख को सम्मानित किया। दोनों ने ही इस जीत को देश में लोकतंत्र और संविधान की जीत बताया। संजय पारिख ने इस मौके पर यह भी कहा कि नियमगिरि के डोंगरिया आदिवासियों की जमीनी संघर्ष भी जोरदार न होता तो सुप्रीम कोर्ट में कानूनी लड़ाई इस मुकाम पर नहीं पहुँच पाती।

नियमगिरि सुरक्षा समिति के नेतृमंडली सिकका लढ़, पुसिका दधि, कुमटी माझी और लिंगराज आजाद की संयुक्त अध्यक्षता में संपन्न इस कार्यक्रम को सत्य महार ने संचालित किया। इस मामला को एक जनहित याचिका के रूप में सुप्रीम कोर्ट में ले आकर लगातार एक जाग्रत प्रहरी के बतौर सक्रिय एन.ए.पी.एम. के राष्ट्रीय संयोजक मंडली सदस्य प्रफुल्ल सामंतरा, आदिवासी नेता और विधायक जार्ज तिर्की, पूर्व सांसद भक्त चरण दास, गंधमार्दन सुरक्षा आंदोलन के प्रमुख संगठक और किसान नेता निरंजन विद्रोही, वेदांत कंपनी द्वारा विस्थापितों वा संघ के अध्यक्ष सुरेन्द्र नाथ, समाजवादी जन परिषद के राष्ट्रीय संगठन मंत्री अफलातून, राष्ट्रीय वनजीवी श्रमिक संगठन के नेता अशोक चौधूरी एवं स्वराज अभियान के कार्यकर्ता लिंगराज ने इस सभा को संबोधित किया।

इस मौके पर आंदोलन के दौरान कंपनी गाड़ी से दुर्घटना ग्रस्त होकर मौत के शिकार कार्यकर्ता शुक्रु माझी की पत्नी के साथ आंदोलन के सिलसिले में जेलवरण किये कार्यकर्ताओं सर्वश्री पद्मनाभ चौधूरी, हरिबंधु, काड्राका, घसरू काड्राका, तेला करकरा, बालि करकरा, नेपाल ताकरी, ड्रेंजो सिकका, प्रमोद सिकक, विलका सिकका, दधि सिकका और बक माझी को सम्मानित किया गया।

रपट : सजप बिहार राज्य कार्यकारिणी

''आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था के अंदर समाजवादी व्यवस्था संभव ही नहीं है। पूरी दुनिया में देखें तो वामपंथ हाशिये पर आ गया है। रूस तथा चीन में किसानों को विस्थापित करके औद्योगीकरण की नीति चलायी गयी। चीन में आज दुनिया का सबसे प्रबल पूँजीवादी व्यवस्था है। औद्योगीकरण में किसान-मजदूरों का शोषण अपरिहार्य है। औद्योगीकरण प्रलय की तरफ ले जाने वाला है। हमें अपनी दृष्टि बदलनी होगी। औद्योगीकरण को छोड़कर ग्राममुखी होना पड़ेगा। अमेरिका में कृषि को अत्यधिक अनुदान देकर बचाया गया है।''

उपर्युक्त बातें प्रख्यात समाजवादी विचारक व लेखक सच्चिदानंद सिन्हा ने आज समाजवादी जनपरिषद के एक दिवसीय प्रांतीय कार्यकारिणी की बैठक विश्वविभूति पुस्तकालय में कही।

कार्यकारिणी की बैठक में परिचय चम्पारण के साथी पंकज और 19 साथियों के ऊपर आर्म्स एक्ट लगाने और कारावास में डाले जाने पर एक प्रस्ताव पारित कर के उन्हें अविलम्ब रिहा करने और पर्चाधारियों को जमीन दिलाने की माँग की गयी। पंकज जी ने पर्चाधारियों को उनके हक के लिए शांतिमय आंदोलन चलाया। जिसके परिणाम स्वरूप बगहा के अंचलाधिकारी ने पंकज जी और उनके साथियों को झूठे आरोपों में गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया है। निर्णय हुआ कि 31 अगस्त को 'जन अभियान के तहत आहूत बगहा में धरना प्रदर्शन में शामिल होना है।

प्रांतीय समिति के दूसरे सत्र में संगठन के विस्तार पर विस्तृत चर्चा हुई। किशन पटनायक पुण्य तिथि समारोह 27 सितम्बर को पटना में करने पर बातें हुई।

प्रांतीय अध्यक्ष संतु भाई संत की अध्यक्षता में हुई बैठक का संचालन महामंत्री नरेन्द्र कुमार ने किया। बैठक में पूर्व प्रांतीय अध्यक्ष बालेश्वर राय, संगठन मंत्री अमरेन्द्र श्रीवास्तव, प्रदेश सचिव अवध बिहारी शरण, प्रदेश उपाध्यक्ष जगत नारायण राय, दीनानाथ द्विवेदी, सुधांशु प्रसाद, वेदप्रकाश आर्य, रामनय प्रताप, रतन भारती व जलधर यदुवंशी ने अपने विचार रखे। बैठक में नालंदा, सीतामढ़ी, रोहतास, पूर्व व पश्चिम चम्पारण व समस्तीपुर के साथी शामिल थे। पूर्वी चम्पारण से वरिष्ठ साथी शकुंतला सिन्हा भी बैठक में उपस्थित थीं।

चिट्‌टी पत्री

1993 में किशनजी का लिखा हुआ लेख (सामयिक वार्ता, जनवरी-फरवरी, 2016) आज सर्वाधिक प्रासंगिक है क्योंकि बीते पूरे दौर मे भारतीय राष्ट्रीयता और सेक्यूलर सिद्धांत प्रयोग के कसौटी से गुजर रहे थे और जो नतीजे निकले है वे किशनजी के निम्न पंक्तियो को पूर्ण रूप से सही सिद्ध कर रहे है 1962 को ... बल्कि इसलिए कि हिंदू राष्ट्र ही एकमात्र भारतीय राष्ट्र है जो दृश्यमान है जिसे लेकर राजनीति मे चिंता और गर्व है। और किसी भारतीय राष्ट्र के बारे मे गर्व करने की या उसे दुनिया मे आदर्श के रूप मे स्थापित करने की बात ही नही होती है। जो जितना बडा धर्म निरपेक्ष बुद्धिजीवी है उसके लिए भारत माता का उच्चारण करना उतना अधिक लज्जाजनक है पूरा सिर्फ पठनीय ही नही है अपितु आत्मसात करने योग्य है ।राष्ट्रीयता के बारे मे कम्युनिस्टों के और लोहिया को छोडकर समाजवादियो के सोच को गलत सिद्ध करते हैं।

अंत मे किशनजी का यह कथन द्रष्टव्य है सांम्प्रदायिकता एक विकृत राष्ट्रीयता की विचारधारा है एक बेहतरीन और अधिक व्यावहारिक राष्ट्रीय विचार धारा ही उसका स्थायी प्रतिकार हो सकती है। यह जो अधिक व्यावहारिक है उसी का अर्थ है भारतीयता जो विविधता पूर्ण है, सहिष्णु है, जो पूर्ण रूप से तात्विक है। अतः लोहियावादी मित्रो से आग्रह है कि भारतीय मनीषी चिंतन और भारतीयता के शाश्वत प्रतीकों से जुड़ कर आधुनिक बनाते हुए अपने धरोहर और सही सेक्यूलर भारतीय जनता से जुडे। सच्चिदा जी का लेख भारतीयता का भविष्य किशनजी के लेख को पूर्ण अर्थवान और समग्र बनाता है। समाजवादी जन परिषद को अपने को व्यापक वैज्ञानिक और राष्ट्रवादी बनाते हुए राष्ट्र का नेतृत्व करना चाहिए क्योंकि विचार कृत्य के विना अर्थ हीन है।

रवींद्र नाथ चौबे, आदित्यपुर, जमशेदपुर

पुस्तक चर्चा

दिल में दरार

भारत विभाजन का सही परिप्रेक्ष्य

संजय गौतम

भारत-पाकिस्तान विभाजन पर पहले भी कई किताबें लिखी गई हैं, लेकिन विभाजन के विभिन्न पहलुओं को आँकती हुई, गाँधी जी की भूमिका के संदर्भ में मानवीय संवेदना के साथ लिखी गई पुस्तक 'दिल में दरार' पढ़ने पर विभाजन पर एक नई दृष्टि का निर्माण होता है। यह पुस्तक गुजराती भाषा में लिखी गई 'जिगरना चीरा' का हिंदी अनुवाद है। अनुवाद किया है वीरेन्द्र नारायण सिंह ने। पुस्तक के लेखक नारायण देसाई का बचपन गाँधी जी के संपर्क में ही बीता, क्योंकि इनके पिता महादेव भाई देसाई गाँधीजी के सचिव थे। साबरमती आश्रम में ही अत्यंत छोटी उम्र में ही नारायण देसाई ने औपचारिक शिक्षा ग्रहण न करने का निर्णय कर लिया था और गाँधीजी के कार्य को ही आगे बढ़ाने का बीड़ा उठा लिया था। बाद में वे विनोबा और जयप्रकाश जी के संपर्क में भी रहे।

गाँधीजी के जीवन और कर्म के इतने करीब रहकर उन्हें आत्मसात करके भी उन्होंने सिर्फ गाँधीवाद का चोला नहीं पहना बल्कि अपने कर्म से गाँधी की भूमिका को जीवंत करते रहे। उन्होंने शोध और विश्लेषण की कई किताबें लिखीं हैं। जब नब्बे के दशक में पूरे देश में सांप्रदायिक दंगों का दौर चला और अंततः गुजरात कांड हुआ तो उनका मन व्यथित हुआ और इसके प्रतिवाद के लिए तथा समान्तर रूप से सृजनात्मक वातावरण के निर्माण के लिए उन्होंने 'गाँधी कथा' का मार्ग चुना और पूरे देश में घूमकर उन्होंने प्रत्येक शरूर में पाँच-पाँच दिनों तक गाँधी कथा' कही। 'रामकथा' की तरह 'गाँधी कथा' की अद्‌भुत शैली ने सुनने वालों के मन में सांप्रदायिकता के बरकस समान्तर दुनिया का सृजन किया। इसे हर श्रोता ने महसूस किया।

इस पुस्तक की पृष्ठभूमि में भी कहीं न कहीं उस कथा का भाव बोध है। पुस्तक में गाँधी के प्रति लगाव के बावजूद तटस्थता से विभाजन की हर परिस्थिति का विश्लेषण किया गया है। ऐसे समय में इस पुस्तक का महत्त्व और बढ़ जाता है, जब सुविचारित और संगठित ढंग से तत्कालीन राष्ट्रीय नेताओं को एक-दूसरे की छवि को ध्वस्त करने में इस्तेमाल किया जा रहा हो। मसलन नेहरू की छवि को ध्वस्त करने के लिए पटेल का इस्तेमाल या नेताजी सुभाषचन्द्र बोस का इस्तेमाल। कहीं अंबेडकर को गलत ढंग से कोट किया जा रहा है तो कहीं भगत सिंह को। गाँधीजी को तो भारत विभाजन के सबसे बड़े गुनहगार के रूप में प्रचारित-प्रसारित करना और उनकी यह छवि बनाए रखना योजनाबद्ध रूप से किया ही जा रहा है ताकि गाँधी कर्म की निरर्थकता और निष्फलता साबित किया जा सके। इस पुस्तक को पढ़ने से सम्यक स्थिति का पता चलता है और पाठक तत्कालीन वास्तविकता से रूबरू होता है।

पुस्तक में भारत विभाजन को लेकर अंग्रेजों की नीति विश्लेषण अत्यंत साफ है। जिन्ना की राजनीति और उनके पश्चाताप का भी तथ्य सामने आया है। माउंटबेटन की चालाकी तथा कांग्रेस मंत्रिमण्डल का विभाजन को स्वीकार करने की प्रक्रिया साफ तौर पर दिख रही है। इन निर्णयों से गाँधी जी को किस तरह अलग रखा गया और उन्हें सिर्फ सूचना दी गई, यह तथ्य सामने आया है। गाँधीजी कैसे उन दिनों अपने को पीले पत्ते की तरह महसूस करते हैं। यह जान जाने के बाद कि बँटवारा हो ही जाएगा, कैसे वह अपना मंतव्य रखते हैं कि भले ही भूगोल का बँटवारा हो, लेकिन दिलों का न हो, ताकि जुड़ने की गुंजाइश बनी रहे। उन्होंने बँटवारे का विरोध करते हुए उसके भावी प्रभावों की जो बात कही थी, वह कितनी सच हुई, यह सब पुस्तक में सिलसिले से आता है। उनकी न्यायप्रियता और सांप्रदायिक शांति के लिए किए गए उपवास को कैसे पाकिस्तान परस्ती से जोड़कर देखा गया, इसमें कितनी सचाई है यह तथ्य भी पुस्तक में साफ हुआ है। शांति के परिप्रेक्ष्य में वह अंत तक कैसे प्रासंगिक बने रहे और उनकी मृत्यु का क्या अर्थ है। यह इस पुस्तक में बहुत साफ तौर पर उभरा है।

जो लोग पटेल की 'लौहपुरुष' छवि को एक संप्रदाय के पक्षधर छवि के रूप में इस्तेमाल करते हैं, उनके लिए पुस्तक का अध्याय 'सरदार' पढ़ना आवश्यक है। नारायण देसाई ने साक्ष्यों के आधार पर दिखाया है कि वे कितने दृढ़ एवं साथ ही भीतर से कितने कोमल थे। गाँधी के साथ उनका कैसा आत्मीय लगाव था। दिल्ली से निकलते हुए उन्होंने 16 जनवरी 1948 को गाँधीजी को जो पत्र लिखा था, उसकी मार्मिकता मन को छू लेती है। वह अपने को

सरकार से मुक्त करना चाहते हैं तो नेहरू के ऊपर काम के बोझ को भी महसूस करते हैं। उन्हीं दिनों उन्होंने गाँधीजी के बारे में कहा था, 'हमारे जैसे सामान्य लोग तात्कालिक लाभ-हानि का विचार करते हैं, परंतु गाँधी जैसे महात्मा इतिहास की दीर्घ दृष्टि से दीर्घकाल का विचार करते हैं। (पृ. 69)

इस तरह यह पुस्तक 'इतिहास' की पद्धति पर न लिखी होते हुए भी भारत विभाजन के परिप्रेक्ष्य को समझने में हमारी मदद करती है। तत्कालीन सांप्रदायिक संगठनों की भूमिका को उजागर करती है और यह समझदारी विकसित करती है कि देश को एक रखने के लिए समझदारी और विवेक की जरूरत होती है, न कि उत्तेजनापूर्ण नादानी से भरे, सांप्रदायिक चेतना को उभार कर राजनीतिक स्वार्थ पूरा करने की मनोवृत्ति की। यह पुस्तक इसलिए जरूरी है कि आज भी यह मनोवृत्ति तीव्र रूप में है। 'देश प्रेम', 'राष्ट्र भक्ति' के उत्तेजक नारों के बीच ही देश के भीतर कितनी दरारें पड़ती रही हैं। उस समय का सच जानकर आज के नारों का सही अर्थ समझना हमारे लिए आसान होगा।

नारायण देसाई ने इस बात पर बहुत बल दिया था कि भारतीय भाषाओं के बीच अनुवाद अंग्रेजी के माध्यम से न होकर सीधे भारतीय भाषाओं से हो। इसे वे एक मिशन के रूप में लेते थे और मानते थे कि अनुवाद द्वारा मात्र एक भाषा का साहित्य या वाङ्मय अन्य में नहीं जाता परंतु एक प्रदेश की संस्कृति, उसके रीति-रिवाज, जीवन-शैली, लोक-जीवन की अनुभूति से भी लोग अवगत होते हैं। यह सांस्कृतिक एकता का एकमात्र माध्यम है। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए उन्होंने 'अनुवाद एकेडमी एंड रिसर्च फाउंडेशन' की स्थापना की। इस फाउंडेशन ने उनके निधन के बाद उनके जन्मदिन के अवसर पर उनकी गुजराती पुस्तक 'जिगरना चीरा' का अनुवाद 'दिल में दरार' के रूप में प्रस्तुत कर न केवल नारायण देसाई के प्रति सच्ची श्रद्धांजली व्यक्त की है, बल्कि व्यापक हिंदी समाज को विभाजन के सही परिप्रेक्ष्य को समझने का अवसर भी दिया है।

पुस्तक– दिल में दरार, लेखक – नारायण देसाई मूल्य– रु0 150/-, प्रकाशक - अनुवाद एकेडमी, अहमदाबाद
प्राप्ति हेतु – पारुल दाडीकर, यज्ञ प्रकाशन, हिंगलाजमाता की बाड़ी, हुजरातपागा, बड़ौदा-390001

कवर पेज 2 का शेष

फ़िलिस्तीन - 2015

महादेशों-महासागरों को पार करती
हिमालय, माच्चू-पिच्चू और किलिमंजारो के शिखरों से
टकरायेंगी और निर्णायक मुक्ति-युद्ध का सन्देश बन
पूरी दुनिया के दबे-कुचले लोगों की सोयी हुई चेतना पर
अनवरत मेह बनकर बरसने लगेंगी।
इसी समय गोधूलि, जीवन के रहस्यों,
आत्मा के उज्ज्वल दुखों,
आत्मसंतुष्टन अकेलेपन, स्वर्गिक राग-विरागों,
भाषा के जादू और बिम्बों की आभा में भटकते कविगण
अपनी कविताओं में फिर से प्यार की अबाबीलों,
शान्ति के कबूतरों, झीने पारभासी पर्दों के पीछे से
झाँकते स्वंप्नों और अलौकिकता को
आमंत्रित करते हैं और कॉफी पीते हैं,
और बार-बार दस तक गिनती गिनते हैं
और डाकिये का इन्ताज़ार करते हैं।
जिस समय विचारक गण भाषा के पर्दे के पीछे
सच्चाइयों का अस्थि-विसर्जन कर रहे होते हैं
इतिहास के काले जल में
और सड़कों पर शोर मचाता, शंख बजाता
एक जुलूस गुज़रता होता है
कहीं सोमनाथ से अयोध्या तक, तो कहीं
बगदाद से त्रिपोली होते हुए दमिश्क और बेरूत तक,
ठीक उसी समय गाज़ा के घायल घण्टा घर का
गजर बजता है
गुज़रे दिनों की स्मृतियाँ अपनी मातमी पोशाकें
उतारने लगती हैं,
माँएँ छोटे-छोटे ताबूतों के सामने बैठ
लोरी गाने लगती हैं
और फ़िलिस्तीन धरती पर आज़ादी की रोशनी फैलाने में
साझीदार बनने के लिए
पूरी दुनिया को सन्देश भेजने में
नये सिरे से जुट जाता है।

सत्ता की दलाली में लोहिया का इस्तेमाल

प्रेम सिंह

यह विभिन्न राजनीतिक पार्टियों और नेताओं द्वारा प्रतिमाओं का राजनीतिक सत्ता के लिए इस्तेमाल का दौर है। प्रतिमाओं के राजनैतिक इस्तेमाल की यह प्रवृत्ति इकहरी और एकतरफा न होकर काफी पेंचदार है। इसमें अपनी पसंदीदा प्रतिमा को उठाने के लिए किसी दूसरी प्रतिमा को गिराना आवश्यक कर्म हो जाता है। नई प्रतिमाएं अपनाई जाती हैं और पुरानी छिपाई जाती हैं। प्रतिमाओं की छीना-झपटी होती है और यह आरोप-प्रत्यारोप भी कि फलां राजनीतिक पार्टी/नेता फलां प्रतिमा को अपनाने का हकदार नहीं है। प्रतिमाओं की यह छीना-झपटी कई बार मिथक-लोक तक पहुंच जाती है। सेकुलर भी संघियों की तरह मिथक-लोक को इतिहास की किताब की तरह पढने और समझाने लगते हैं। प्रतिमा जरूरी नहीं है, जैसा कि अक्सर होता है, स्वतंत्रता आंदोलन के दौर की यानी भूतकालिक हो। कारपोरेट और मीडिया द्वारा कतिपय जीवित शख्सों को भी रातों-रात प्रतिमा का गौरव प्रदान कर दिया जाता है। प्रतिमा होगी तो भक्त भी होंगे। जैसे कुछ दिन पहले के 'सोनिया-भक्त' और हाल के 'मोदी-भक्त'! बीच में अण्णा हजारे के भक्तों की बाढ भी देखी गई। उसे देख कर लगा गोया पूरा देश ही बह गया है - यानी भ्रष्ट भारत! बाद में पता चला कि कारपोरेट निर्मित वह बाढ कांग्रेस को बहा कर मोदी और केजरीवाल को नवउदारवाद की आगे की बागडोर थमाने के लिए थी। बहरहाल, प्रतिमाओं के राजनैतिक इस्तेमाल की प्रवृत्ति का इस कदर जोर है कि अलग-अलग विचारों/खेमों के बुद्धिजीवी भी यह कवायद करने में लगे हैं।

ध्यान दिया जा सकता है कि नवउदारवाद आने के साथ प्रतिमाओं के इस्तेमाल और टकराहट का कारोबार तेज होता चला गया है। जताया यह जाता है कि यह अलग-अलग विचारों और प्रतिबद्धताओं का संघर्ष है जिसे अब जाकर सही मायनों में अवसर और तेजी मिली है। लेकिन अंदरखाने ज्यादातर प्रतिमा-पूजक और प्रतिमा-भंजक नवउदारवाद की मजबूती चाहने और बनाने में लगे होते हैं। एक छोटे से उदाहरण से इस सर्वग्रासी प्रवृत्ति को समझा जा सकता है। हाल में सीपीआई (माले) के महासचिव दीपंकर भट्टाचार्य ने अंबेडकर और भगत सिंह के सपनों का भारत बनाने का आह्वान किया है। लेकिन इसके साथ ही वे एनजीओ सरगना अरविंद केजरीवाल के भी पहले दिन से खुले समर्थक हैं। ऐसे हालातों में सत्ता की दलाली करने वाले लोग भी प्रतिमाओं का अपने निजी फायदे के लिए इस्तेमाल करें तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

हमने यह टिप्पणी दरअसल यही दर्शाने के लिए लिखी है। एक ताजा उदाहरण द्रष्टव्य है। निजी आईटीएम यूनीवर्सिटी, ग्वालियर में 27 अगस्त 2016 को डॉ राममनोहर लोहिया स्मृति व्याख्यान के प्रमुख अतिथि यानी प्रमुख वक्ता भाजपा के वरिष्ठ नेता और गृहमंत्री राजनाथ सिंह हैं। कार्यक्रम में अलग-अलग पार्टियों के कई अन्य नेता/मंत्री भी आमंत्रित हैं। कोई नेता किसी प्रतिमा के नाम पर आयोजित स्मृति व्याख्यान दे, इसमें बुराई नहीं है। लेकिन उससे विषय के ज्ञान की अपेक्षा गलत नहीं कही जा सकती। राजनाथ सिंह अच्छे भाजपा नेता हो सकते हैं, लोहिया के चिंतन पर उनके अध्ययन और समझदारी का पूर्व-प्रमाण नहीं मिलता। जाहिर है, यह सत्ता की दलाली के लिए किया गया आयोजन है। यह सच्चाई इससे भी स्पष्ट होती है कि लोहिया के नाम पर आयोजित इस स्मृति व्याख्यान का कोई विषय नहीं रखा गया है। जो वक्ता जिस तरह से चाहे लोहिया, जिन्होंने शिक्षा, भाषा, शोध, कला आदि को उपनिवेशवादी शिकंजे से मुक्त करने की दिशा में विशिष्ट प्रयास किए, को नवउदारवाद के हमाम में खींच सकता है। इस निजी यूनिवर्सिटी द्वारा आयोजित यह दूसरा लोहिया स्मृति व्याख्यान है। पिछले साल उपराष्ट्रपति हामिद अंसारी ने जो स्मृति व्याख्यान दिया था, उसका भी कोई विषय नहीं था। कहने की जरूरत नहीं कि हामिद अंसारी सरकार में कितने भी बडे पद पर हों और उस नाते निजी विश्वविद्यालयों को फायदा पहुंचाने की हैसियत रखते हों, राजनाथ सिंह की तरह लोहिया के जीवन, राजनीति और विचारधारा के अध्ययन का उनका भी कोई पूर्व-प्रमाण नहीं मिलता।

आजादी के संघर्ष में हिस्सा लेने वाले प्रायः सभी नेता उच्च स्तर के विचारक भी थे। उनके विषय में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह कही जा सकती है कि वे प्रायः सभी संस्थानों के बाहर सक्रिय थे; बल्कि उन्होंने आजादी की चेतना फैलाने और आजादी पाने के रास्ते पर संस्थानों का निर्माण किया। इन नेताओं का निजी मुनाफे के लिए चलाए जाने वाले शिक्षा संस्थानों के लिए इस्तेमाल गंभीर चिंता की बात है।

चंचल मुखर्जी, पाण्डेय हवेली, वाराणसी-221001 द्वारा प्रकाशित एवं दी महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी से मुद्रित